मेम्बर

श्रीमान् सेठ मन्नालालजी चांदमलजी ताल
,, ,, सजनराजजी साहब ब्यावर
,, ,, चंदनमलजी मिश्रीमलजी गुलेछा ब्यावर
,, ,, मिश्रीमलजी बाबेल ब्यावर
,, ,, रिखबदासजी खींवेसरा ब्यावर
,, ,, हरदेवमलजी सुवालालजी ब्यावर
,, ,, दौलतरामजी बागावत भोपाल
,, ,, छगनलालजी सोजतिया उदयपुर
,, ,, छगनमलजी बस्तीमलजी ब्यावर
,, ,, रिखबदासजी बालचंदजी बम्बई
,, ,, चुन्नीलालजी भाईचंदजी बम्बई
,, ,, रसिकलालजी हीरालालजी बम्बई
,, ,, सैंसमलजी जीवराजजी देवड़ा औरंगाबाद
,, ,, पनजी दौलतरामजी भण्डारी अहमदनगर
,, ,, पुखराजजी नहार बम्बई
,, ,, रतनचन्दजी हीराचन्दजी बांदरा बम्बई
श्री श्वे० स्थानकवासी जैन श्री संघ सिहोर
,, ,, ,, बालिया
,, ,, ,, झालरापाटन केम्प

श्री जैन महावीर मंडल, गरोठ (होल्कर स्टेट)

श्रीमान् लोढाजी सोहनलालजी — भवानीगंज
" हरकचंदजी नथमलजी — पंचपहाड़
" भँवरलालजी जीतमलजी — सिरबोई
" गुलाबचंदजी पुनमचंदजी — रायपुर
" रोडमलजी बावेल — ब्यावर
" गुलाबचंदजी इन्दरमलजी — मल्हारगढ़
" किसनलालजी हजारीमलजी — पिपलगांव
" उगमचंदजी दानमलजी — बोदवड़
" राजमलजी नंदलालजी — वरणगांव
" बंडूलालजी हरकचंदजी — नसीराबाद
" जमनालालजी रामलालजी — हैद्राबाद
" धनराजजी हीराचंदजी सा० — बेंगलोर
" हजारीमलजी मुलतानमलजी — बेंगलोर
" हीरालालजी सा० धोका — यादगिरी
" कन्हैयालालजी मोतीलालजी — शोलापुर
" गणेशमलजी चतर — सिवनी (मालवा)
" सुरजमलजी जैन वैद — मांगरोल
" उम्मेदमलजी भँवरलालजी वैद — मांगरोल

निर्ग्रन्थ प्रवचन-माहात्म्य

किंपाक फल बाहरी रंग-रूप से चाहे जितना सुन्दर और मनोमोहक दिखलाई पड़ता हो परन्तु उसका सेवन परिणाम में दारुण दुःखों का कारण होता है। संसार की भी यही दशा है। संसार के भोगोपभोग, आमोद प्रमोद, हमारे मन को हरण कर लेते हैं। एक दरिद्र, यदि पुण्योदय से कुछ लक्ष्मी प्राप्त कर लेता है तो मानों वह कृतकृत्य हो जाता है। संतान की कामना करने वाले को यदि संतान-प्राप्त हो गई तो, बस वह निहाल होगया। जो अदूरदर्शी हैं, बहिरात्मा हैं, उन्हें यह सब सांसारिक पदार्थ मूढ़ बना देते हैं। कंचन और कामिनी की माया उसके दोनों नेत्रों पर अज्ञान का ऐसा पर्दा डाल देती है कि उसे इनके अतिरिक्त और कुछ सूझता ही नहीं। यह माया मनुष्य के मन पर मदिरा का सा किन्तु मदिरा की अपेक्षा अधिक स्थायी प्रभाव डालती है। वह बेभान हो जाता है। ऐसी दशा में वह जीवन के लिए मृत्यु का आलिंगन करता है, अमर बनने के लिए ज़हर

का पान करता है, सुखों की प्राप्ति की इच्छा से भयंकर दुःखों के जाल की रचना करता है। मगर उसे जान पड़ता है, मानों वह दुःखों से दूर होता जाता है।

अन्त में एक ठोकर लगती है। जिसके लिए मेरे पचे-खून का पसीना बनाया, वही लक्ष्मी लात मार कर अलग जा खड़ी होती है। जिस संतान के सौभाग्य का उपभोग करके फूले न समाते थे, आज वही संतान हृदय के मर्म स्थान पर हज़ारों चोटें मारकर न जाने किस ओर चल देती है। वियोग का वज्र ममता के शैल-शिखर को कभी-कभी चूर्ण विचूर्ण कर डालता है। ऐसे समय में यदि पुण्योदय हुआ तो आंखों का पर्दा दूर हो जाता है और जगत् का वास्तविक स्वरूप एक वीभत्स नाटक की तरह नज़र आने लगता है। वह देखता है—आह! कैसी भीषण अवस्था है। संसार के प्राणी मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ रहे हैं, हाथ कुछ आता नहीं। "अर्था न सन्ति न च मुञ्चति मां दुराशा" मिथ्या आकांक्षाएँ पीछा नहीं छोड़तीं और आकांक्षाओं के अनुकूल अर्थ की कभी प्राप्ति नहीं होती। यहां दुःखों का क्या ठिकाना

ना है ? प्रातःकाल जो राजसिंहासन पर आसीन थे, दोपहर होते ही वे दर-दर के भिखारी देखे जाते हैं। जहाँ अभी रंग रेलियां उड़ रहीं थीं वहीं क्षण भर में हाय हाय की चीत्कार हृदय को चीर डालता है। ठीक ही कहा है—"काहू घर पुत्र जायो काहू के वियोग आयो, काहू राग रंग काहु रोआ रोई परी है।"

गर्भवास की विकृट वेदना, व्याधियों की धमा-चौकड़ी, जरा-मरण की व्यथाएँ, नरक और तिर्यञ्च गति के अपरम्पार दुख ! सारा संसार मानों एक विशाल भट्टी है और प्रत्येक संसारी जीव उसमें कोयले की नांई जल रहा है !!

वास्तव में संसार का यही सच्चा स्वरूप है। मनुष्य जब अपने आंतरिक नेत्रों से संसार को इस अवस्था में देख पाता है तो उसके अन्तःकरण में एक अपूर्व संकल्प उत्पन्न होता है। वह इन दुःखों की परम्परा से छुटकारा चाहने का उपाय खोजता है। इन दारुण आपदाओं से मुक्त होने की उसकी आंतरिक भावना जागृत हो उठती है। जीव की इसी अवस्था को 'निर्वेद' कहते हैं।

जब संसार से जीव विरक्त या विमुख बन जाता है तो वह संसार से परे किसी और लोक की कामना करता है मोक्ष चाहता है।

मुक्ति की कामना के वशीभूत हुआ मनुष्य किसी 'गुरु' का अन्वेषण करता है। गुरुजी के चरण-शरण होकर वह उन्हें आत्मसमर्पण कर देता है। अबोध बालक की भाँति उनकी अंगुलियों के इशारे पर नाचता है। भाग्य से यदि सच्चे गुरु मिल गए तब तो ठीक नहीं तो एक बार भट्टी में पड़ना पड़ता है।

तब उपाय क्या है ? वे कौन से गुरु है जो आत्मा का संसार से निस्तार कर सकने में सक्षम हैं। यह निर्ग्रन्थ-प्रवचन इस प्रश्न का संतोषजनक समाधान करता है और ऐसे तारक गुरुओं की स्पष्ट व्याख्या हमारे सामने उपस्थित कर देता है।

संसार में जो मतमतान्तर उत्पन्न होते हैं, उन के मूल कारणों का यदि अन्वेषण किया जाय तो मालूम होगा कि कषाय और अज्ञान ही इनके मुख्य बीज हैं। शिव राजर्षि को अवधिज्ञान, जो कि

अपूर्ण होता है, हुआ। उन्हें साधारण मनुष्यों की अपेक्षा कुछ अधिक बोध होने लगा। उन्होंने मध्यलोक के असंख्यात द्वीप समुद्रों में से सात द्वीप-समुद्र ही जान पाये। लेकिन उन्हें ऐसा भास होने लगा मानों वे सम्पूर्ण ज्ञान के धनी हो गए हैं, और अब कुछ भी जानना शेष नहीं रहा। बस, उन्होंने यह घोषणा कर दी कि सात ही द्वीप समुद्र हैं—इन से अधिक नहीं। तात्पर्य यह है कि जब कोइ व्यक्ति कुज्ञान या अज्ञान के द्वारा पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को पूर्ण रूप से नहीं जान पाता और साथ ही एक धर्म प्रवर्त्तक के रुप में होने वाली प्रतिष्ठा के लोभ को संवरण भी नहीं कर पाता तब सनातन सत्य मत के विरुद्ध एक नया ही मत जनता के सामने रख देता है, और भोली-भाली जनता उस भ्रममूलक मत के जाल में फँस जाती है।

विभिन्न मतों की स्थापना का दूसरा कारण कषायोद्रेक है। किसी व्यक्ति में कभी कषाय की बाढ़ आती है तो वह क्रोध के कारण, मान-बड़ाई के लिए अथवा दूसरों को ठगने के लिए या किसी

लोभ के कारण एक नया ही सम्प्रदाय बना कर खड़ा कर देता है। इस प्रकार अज्ञान और कषाय की करामात के कारण मुमुक्षु जनों को सच्चा मोक्षमार्ग ढूँढ़ निकालना अतीव दुष्कर कार्य हो जाता है। कितने ही लोग इस भूलभूलैया में पड़कर ही अपने पावन मानव-जीवन को यापन कर देते हैं और कई झुंझला कर इस ओर से विमुख हो जाते हैं।

'जिन खोजा तिन पाइया' की नीति के अनुसार जो लोग इस बात को भलीभाँति जान लेते हैं कि सब प्रकार के अज्ञान से शून्य अर्थात् सर्वज्ञ और कषायों का समूल उन्मूलन करने वाले अर्थात् वीतराग, की पदवी जिन महानुभावों ने तीव्र तपश्चरण और विशिष्ट अनुष्ठानों द्वारा प्राप्त कर ली है, जिन्होंने कल्याण पथ-मोक्षमार्ग को स्पष्ट रूप से देख लिया है, जिनकी अपार करुणा के कारण किसी भी प्राणी का अनिष्ट होना संभव नहीं और जो जगत् को पथप्रदर्शन करने के लिए अपने इन्द्रवत् स्वर्गीय वैभव को तिनके की तरह त्याग कर अकिञ्चन बने हैं, उनका बताया हुआ-

अनुभूत-मोक्षमार्ग कदापि अन्यथा नहीं। हाँ सकता, वह मुक्ति के मंगलमय मार्ग में अवश्य प्रवेश करता है और अन्त में चरम पुरुषार्थ का साधन करके सिद्ध-पदवी का अधिकारी बनता है। इन्हीं पूर्वोक्त सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, वीतराग और हितोपदेशक महानुभावों को 'निगंठ' निग्गंथ, या 'निर्ग्रन्थ' कहते हैं। भौतिक या आधिभौतिक परिग्रह की दुर्भेद्य ग्रंथि को जिन्होंने भेद डाला हो, जिनकी आत्मा पर अज्ञान या कषाय की कालिमा लेश-मात्र भी नहीं रही हो इसी कारण जो स्फटिक मणि से भी अधिक स्वच्छ हो गई हो, वही 'निर्ग्रंथ' पद को प्राप्त करता है।

प्रत्येक काल में, प्रत्येक देश में और प्रत्येक परिस्थिति में निर्ग्रंथों का ही उपदेश सफल और हितकारक हो सकता है। यह उपदेश सुमेरु की तरह अटल, हिमालय की तरह संताप निवारक शांति प्रदायक, सूर्य की तरह तेजस्वी और अज्ञानान्धकार का हरण करने वाला, चन्द्रमा की तरह पीयूष-वर्षण करने वाला और आह्लादक, सुरतरु की तरह सकल संकल्पों का पूरक, विद्युत् की तरह प्रकाशमान्, और आकाश की भाँति अनादि

अनन्त और असीम है। वह किसी देशविशेष या कालविशेष की सीमाओं में आबद्ध नहा है। परिस्थितियाँ उसके पथ को प्रतिहत नहीं कर सकतीं। मनुष्य के द्वारा कल्पित कोई भी श्रेणी, वर्ण, जाति पांति या वर्ग उसे विभक्त नहीं कर सकता पुरुष हो या स्त्री, पशु हो या पक्षी, सभी प्राणियों के लिए वह सदैव समान है-सब अपनी योग्यता के अनुसार उस उपदेश का अनुसरण कर सकते हैं। संक्षेप में कहें तो यह कह सकते हैं कि निर्ग्रंथों का प्रवचन सार्व है, सार्वजनिक है, सार्वदेशिक है, सार्वकालिक है और सर्वार्थ साधक है।

निर्ग्रंथों का प्रवचन आध्यात्मिक-विकास के क्रम और उसके साधनों की सम्पूर्ण और सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या हमारे सामने प्रस्तुत करता है। आत्मा क्या है? आत्मा में कौन-कौन सी और कितनी शक्तियाँ हैं? प्रत्यक्ष दिखलाई देने वाली आत्माओं की विभिन्नता का क्या कारण है? यह विभिन्नता किस प्रकार दूर की जा सकती है? नारकी और देवता, मनुष्य और पशु आदि की आत्माओं में कोई मौलिक विशेषता है या वस्तुतः

वे समान-शक्ति शाली हैं ? आत्मा की अधस्तम अवस्था क्या है ? आत्म-विकास की चरम सीमा कहाँ विश्रान्त होती है ? आत्मा के अतिरिक्त पर-मात्मा कोई भिन्न है या नहीं ? यदि नहीं तो किन उपायों से किन साधनाओं से आत्मा परमात्म पद पा सकता है ? इत्यादि प्रश्नों का सरल, सुस्पष्ट और संतोषप्रद समाधान हमें निर्ग्रंथ-प्रवचन में मिलता है ? इसी प्रकार जगत् क्या है ? वह अनादि है या सादि ? आदि गहन समस्याओं का निराकरण भी हम निर्ग्रंथ-प्रवचन में देख पाते हैं।

हम पहले ही कह चुके हैं कि निर्ग्रंथों का प्रवचन किसी भी प्रकार की सीमाओं मे आबद्ध नहीं है। यही कारण है कि वह ऐसी व्यापक विधियों का विधान करता है जो आध्यत्मिक दृष्टि से अत्युत्तम तो हैं ही; साथ ही उन विधानों में से ऐहलौकिक सामाजिक सुव्यवस्था के लिए सर्वो-त्तम व्यवहारोपयोगी नियम भी निकलते हैं। संयम, त्याग, निष्परिग्रहता (और श्रावकों के लिए परिग्रह परिमाण) अनेकान्तवाद और कर्मादानों की त्याज्यता प्रभृति ऐसी ही कुछ विधियाँ हैं,

जिनके न अपनाने के कारण आज समाज में भीषण विश्रृंखला दृष्टिगोचर हो रही है। निर्ग्रंथों ने जिस मूल आशय से इन बातों का विधान किया है उस आशय को सन्मुख रखकर यदि सामाजिक विधानों की रचना की जाए तो समाज फिर हरा-भरा, सम्पन्न सन्तुष्ट और सुखमय बन सकता है। आध्यात्मिक दृष्टि से तो इन विधानों का महत्व है ही पर सामाजिक दृष्टि से भी इनका उससे कम महत्व नहीं है। संयम, उस मनोवृत्ति के निरोध करने का अद्वितीय उपाय है जिससे प्रेरित होकर समर्थ जन आमोदप्रमोद में समाज की सम्पत्ति को * स्वाहा करते हैं। त्याग एक प्रकार के बँटवारे का रूपान्तर है। परिग्रह परिमाण एक प्रकार के आर्थिक साम्यवाद का आदर्श हमारे सामने पेश करते हैं; जिनके लिए आज संसार का बहुत सा भाग पागल हो रहा है। विभिन्न नामों

* क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समाज का एक-एक अंग है अतः उसकी व्यक्तिगत कही जाने वाली सम्पत्ति भी वस्तुतः समाज की सम्पत्ति है।

तो उनके अनुभवों का लाभ उठाकर अपना पथ प्रशस्त बना सकते हैं। क्या ही ठीक कहा है—

"इणमेव निग्गंथे पावयणे सच्चे, अणुत्तरे, केवलए, संसुद्धे, पडिपुरणे, णेआउए, सल्लकत्तणे, सिद्धिमग्गे, मुत्तिमग्गे, निव्वाणमग्गे, णिज्जाणमग्गे, अवितहमसंदिद्धं, सव्वदुक्खपहीणमग्गे, इहट्ठियाजीवा सिज्झंति, बुज्झंति, मुच्चंति परिणिव्वायंति, सव्वदुक्खाणमंतं करेंति।"

यह उद्गार उन महर्षियों ने प्रकट किये हैं जिन्होंने कल्याणमार्ग की खोज करने में अपना सारा जीवन अर्पण करदिया था और निर्ग्रंथ-प्रवचन के आश्रय में आकर जिनकी खोज समाप्त हुई थी। यह उद्गार निर्ग्रंथ-प्रवचन-विषयक यह स्वरूपोल्लेख हमें दीपक का काम देता है।

यों तो अनादि काल से ही समय-समय पर पथप्रदर्शक निर्ग्रंथ तीर्थंकर होते आए हैं परन्तु आज से लगभग अढ़ाई हज़ार वर्ष पहले चरम निर्ग्रंथ भ० महावीर हुए थे। उन्होंने जो प्रवचन-पीयूष की वर्षा की थी, उसी में का कुछ अंश यहाँ संग्रहीत किया गया है।

यह निर्ग्रंथ-प्रवचन परम मांगलिक है, आधि-व्याधि-उपाधियों को शमन करने वाला, बाह्याभ्यन्तर रिपुओं को दमन करने वाला और समस्त इह-परलोक संबंधी भयों को निवारण करने वाला है। यह एक प्रकार का महान् कवच है। जहाँ इसका प्रचार है वहां भूत पिशाच, डाकिनी शाकिनी आदि का भय फटक भी नहीं सकता। जो इस प्रवचन-पोत पर आरूढ़ होता है वह भीषण विपत्तियों के सागर को सहज ही पार कर लेता है। यह मुमुक्षु जनों के लिए परम सखा, परम पिता, परम सहायक और परम मार्गनिर्देशक है।

भूमिका

जिन-देशना आर्यावर्त्त अज्ञात अतीत काल से ऐसे महापुरुषों को उत्पन्न करता रहा है, जिन्होंने इस व्याधि उपाधि के जाल में जकड़े हुए मानव समूह को सत्पथ प्रदर्शित किया है। दीर्घ तपस्वी श्रमण भगवान् महावीर ऐसे ही महान् आत्माओं में से एक थे। आज से लगभग २५०० वर्ष पूर्व, जब भारतवर्ष अपनी पुरातन आध्यात्मिकता के मार्ग से विमुख हो गया था, बाह्य कर्मकाण्ड की उपासना के भार से लद रहा था और प्रेम, दया, सहानुभूति, समभाव, क्षमा आदि सात्त्विक वृत्तियाँ जब जीवन में से किनारा काट रही थीं, तब भगवान् महावीर ने आगे आकर भारतीय जीवन में एक नई क्रान्ति की थी। भगवान् महावीर ने कोरे उपदेशों से यह क्रान्ति की हो, सो बात नहीं है। उपदेश मात्र से कभी कोई महान् क्रान्ति होती भी नहीं है। भगवान् महावीर राजपुत्र थे। उन्हें संसार में प्राप्त हो सकने वाली सुख सामग्री सब प्राप्त थी। मगर

उन्होंने विश्व के उद्धार के हेतु समस्त भोगोपभोगों को तिनके की तरह त्याग कर अरण्य की शरण ग्रहण की। तीव्र तपश्चरण के पश्चात् उन्हें जो दिव्य ज्योति मिली-उसमें चराचर विश्व अपने वास्तविक स्वरूप में प्रतिभासित होने लगा। तब उन्होंने इस भूले भटके संसार को कल्याण का प्रशस्त मार्ग प्रदर्शित किया। भगवान् महावीर के जीवन से हमें इस महत्वपूर्ण बात का पता चलता है कि उन्होंने अपने उपदेश में जो कुछ प्रतिपादन किया है वह दीर्घ अनुभव और अभ्रान्त ज्ञान की कसौटी पर कस कर, खूब जांच पड़ताल कर कहा है। अतएव उनके उपदेशों में स्पष्टता है, असंदिग्धता है, वास्तविकता है।

देशना की सार्वजनिकता श्रमण संस्कृति सदा से मनुष्य जाति की एक रूपता पर जोर देती आ रही है। उसकी दृष्टि में मानव समाज को टुकड़ों में विभक्त कर डालना, किसी भी प्रकार के कृत्रिम साधनों से उसमें भेदभाव-की सृष्टि करना, न केवल अवास्तविक है वरन् मानव समाज के

विकास के लिए भी अतीव हानिकारक है। ब्राह्मण क्षत्रिय आदि का भेद हम अपनी सामाजिक सुविधाओं के लिए करें, यह एक बात है और उनमें प्रकृति भेद की कल्पना करके उनकी आध्यात्मिकता पर उसका प्रभाव डालना दूसरी बात है। इसे श्रमणसंस्कृति सहन नहीं करती। यही कारण है कि भगवान् महावीर के उपदेश नीच ऊँच ब्राह्मण अब्राह्मण, सब के लिए समान हैं। उनका उपदेश श्रवण करने के लिए सब श्रेणियों के मनुष्य बिना किसी भेदभाव के उनकी सेवा में उपस्थित होते थे और आज नीच से नीच समझे जाने वाले चाण्डालों को भी महावीर के शासन में वह गौरवपूर्ण पद-प्राप्त हो सकता था जो किसी ब्राह्मण को। जैन शास्त्रों में ऐसे अनेक उदाहरण अब भी मौजूद हैं जिनसे हमारे कथन की अक्षरशः पुष्टि होती है। भगवान् महावीर का अनुयायीवर्ग आज संसर्ग दोष से अपने आराध्यदेव की इस मौलिक कल्पना को भूलसा रहा है, पर युग उसे जगा रहा है। हमारा कर्त्तव्य है कि हम भगवान् का दिव्य संदेश प्राणी मात्र के कानों तक पहुंचावें।

सार्वकालिकता भगवान् सर्वज्ञ थे। उनके उपदेश देश काल, आदि की सीमाओं से घिरे हुए नहीं हैं। वे सर्वकालीन हैं, सार्वदेशिक हैं, सार्व हैं। संसार ने जितने अंशों में उन्हें भुलाने का प्रयास किया उतने ही अंशों में उसे प्रकृतिप्रदत्त प्रायश्चित करना पड़ा है। अधिक विवेचन की आवश्यकता नहीं-हम देख सकते हैं कि आज के युग में जो विकट समस्याएँ हमारे सामने उपस्थित हैं, हम जिस भौतिकता के विध्वंसमार्ग पर चले जा रहे हैं, उनके प्रति विद्वानों को असंतोष पैदा हो रहा है। आखिर वे फिर ज़माने को महावीर के युग में मोड़ ले जाना चाहते हैं। सारा संसार रक्तपात से भयभीत होकर अहिंसादेवी के प्रसादमय अंक में विश्राम लेने को उत्सुक हो रहा है। जीवन को संयमशील और आडम्बर हीन बनाने की फिक्र कर रहा है। नीच ऊँच का काल्पनिक दीवारों को तोड़ने के लिए उतारू हो गया है। यही महावीर-प्रदर्शित मार्ग है, जिस पर चले बिना मानव समूह का कल्याण नहीं।

महावीर के मार्ग से विमुख होकर संसार ने बहुत कुछ खोया है। पर यह प्रसन्नता की बात है कि वह फिर उसी मार्ग पर चलने की तैयारी में है। ऐसी अवस्था में हमें यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि इस मार्ग के पथिकों के सुभीते के लिए उनके हाथ में एक ऐसा प्रदीप दे दिया जाय जिससे वे अभ्रान्ति पूर्वक अपने लक्ष्य पर जा पहुंचे। बस, वही प्रदीप यह 'निर्ग्रन्थ-प्रवचन' है। कहने की आवश्यकता नहीं कि भगवान् महावीर के इस समय उपलब्ध विशाल वाङ्मय से इसका चुनाव किया गया है, पर संक्षिप्तता की ओर भी इसमें पर्याप्त ध्यान रखा है।

अध्यात्म प्रधानता यह ठीक है कि भगवान् महावीर ने आध्यात्मिकता में ही जगत्कल्याण को देखा है और उनके उपदेशों को पढ़ने से स्पष्ट ही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उनमें कूट-कूट कर आध्यात्मिकता भरी हुई है। उनके उपदेशों का एक-एक शब्द हमारे कानों में आध्यात्मिकता की भावना उत्पन्न करता है। संसार के भोगोपभोगों

को वहाँ कोई स्थान प्राप्त नहीं है। आत्मा एक स्वतंत्र ही वस्तु है और इसीलिए उसके वास्तविक सुख और संवेदन आदि धर्म भी स्वतंत्र हैं-परानपेक्ष हैं। अतएव जो सुख किसी बाह्य वस्तु पर अवलम्बित नहीं है, जिस ज्ञान के लिए पौद्गलिक इन्द्रिय आदि साधानों की आवश्यकता नहीं है, वही आत्मा का सच्चा सुख है, वही सच्चा-स्वाभाविकज्ञान है। वह सुख-संवेदन, किस प्रकार, किन-किन उपायों से, किसे और कब प्राप्त हो सकता है? यही भगवान् महावीर के वाङ्मय का मुख्य प्रतिपाद्य है। अतएव इनकी व्याख्या करने में हमारे जीवन के सभी-क्षेत्रों की व्याख्या हो जाती है और उनके आधार पर नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, आदि समस्त विषयों पर प्रकाश पड़ता है। इसे स्पष्ट करके उदाहरण पूर्वक समझाने के लिए विस्तृत विवेचन की आवश्यकता है, और हमें प्रस्तावना की सीमा से आगे नहीं बढ़ना है। पाठक 'निर्ग्रंथ प्रवचन' में यत्र-तत्र इन विषयों की साधारण झलक भी देख सकेंगे।

निर्ग्रंथ-प्रवचन और विषय-दिग्दर्शन

'निर्ग्रंथ-प्रवचन' अठारह अध्यायों में समाप्त हुआ है।

इन अध्यायों में विभिन्न विषयों पर मनोहर, आन्तराह्लादजनक और शान्ति-प्रदायिनी सूक्तियाँ संगृहीत हैं। सुगमता से समझने के लिए यहाँ इन अध्यायों में वर्णित वस्तु का सामान्य परिचय करा देना आवश्यक है, और वह इस प्रकार है:—

(१) समस्त आस्तिक दर्शनों की नींव आत्मा पर अवलम्बित है। संसार रूपी इस अद्भुत नाटक का प्रधान अभिनेता आत्मा ही है, जिसकी बदौलत भाँति-भाँति के दृश्य दृष्टिगोचर होते हैं। अतएव प्रथम अध्याय में प्रारम्भ में आत्मा संबंधी सूक्तियाँ हैं। आत्मा अजर-अमर है, रूप, रस, गंध स्पर्श रहित होने के कारण वह अमूर्त्त है, इन्द्रियों द्वारा उसका बोध नहीं हो सकता। मगर वह मूर्त्त कर्मों से बद्ध होने के कारण मूर्त्त सा हो रहा है। आत्मा के सुख-दुख आत्मा पर ही आश्रित हैं। आत्मा स्वयं ही अपने दुख-सुखों की सृष्टी करता है। वही स्वयं अपना मित्र है और स्वयं शत्रु है। आत्मा जब दुरात्मा बन जाता है तो वह प्राण-हारी शत्रु से भी भयंकर होता है। अतएव संसार में यदि कोई सर्वोत्कृष्ट विजय है तो वह है-अपने

आप पर विजय प्राप्त करना। जो अपने आप पर विजय नहीं पाता किन्तु संग्राम में लाखों मनुष्यों को जीत लेता है उसकी विजय का कोई मूल्य नहीं। आत्मा का स्वरूप ज्ञान-दर्शनमय है। ज्ञान से जगत् के द्रव्यों को उनके वास्तविक रूप में देखना जानना चाहिए। अतएव आत्मा के विवेचन के बाद नव तत्त्वों और द्रव्यों का परिचय कराया गया है।

(२) जगत् के इस अभिनय में दूसरा भाग कर्मों के चक्कर में पड़कर ही आत्मा संसार-परिभ्रमण करता है। कर्म आठ हैं—(१) ज्ञानावरण (२) दर्शनावरण (३) वेदनीय (४) मोहनीय (५) आयु (६) नाम (७) गोत्र (८) अन्तराय। कर्मों के कितने भेद हैं, कितने समय तक एक बार बँधे हुए कर्म का आत्मा के साथ सम्पर्क रहता है, यह इस अध्ययन में स्पष्ट किया गया है। कर्मों का करना हमारे अधीन है पर भोगना हमारे हाथ की बात नहीं। जो कर्म किए हैं उन्हें भोगे बिना छुटकारा नहीं मिल सकता। बन्धु-

बान्धव, मित्र, पुत्र कलत्र आदि कोई इसमें हाथ नहीं बँटा सकता। मोहनीय कर्म इन सब का सरदार है। यह कर्म सैन्य का सेनापति है। जिसने इसे परास्त किया उसे अनन्त आत्मिक-साम्राज्य प्राप्त हो गया। राग और द्वेष ही दुःख के मूल है। अतएव मुमुक्षु जीवों को सर्वप्रथम मोहनीय कर्म से ही मोर्चा लेना चाहिए।

(३) मनुष्यभव बड़ी कठिनाई से मिलता है। यदि वह मिल भी जाय तो फिर सद्धर्म की प्राप्ति आदि अनुकूल निमित्तों का पा सकना मुश्किल है। जिसे यह दुर्लभ निमित्त मिले हैं उन्हें प्रमाद न कर धर्माराधन करना चाहिए। कौन जाने कब क्या हो जायगा, अतः वृद्धावस्था आने से पूर्व, व्याधि होने से पहले और इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होने से प्रथम, ही धर्म का आचरण कर लेना उचित है। जो समय गया सो गया, वह वापस लौटकर आने वाला नहीं। धर्मात्मा का समय ही सफल होता है। धर्म वही सत्य समझना चाहिए जिसका वीतराग मुनियों ने प्रतिपादन किया है। धर्म ध्रुव है, नित्य है।

(४) आत्मा विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करता है। नरक गति में उसे महान् क्लेश भोगने पड़ते हैं। तिर्यंच गति के दुःख प्रत्यक्ष ही हैं। मनुष्य गति में भी विश्रान्ति नहीं—इस में व्याधि जरा, मरण आदि की प्रचुर वेदनाएँ विद्यमान हैं। देव गति भी अल्पकालीन है। इन समस्त दुःखों का अन्त वही पुण्य पुरुष कर सकते हैं जो धर्मा- राधना करके सिद्धि प्राप्त करते हैं। सिद्धि प्राप्त करने के लिए कृत पापों का प्रायश्चित करना चाहिए। तपस्या, निर्लोभता, परिषह-सहिष्णुता ऋजुता, धैर्य, संवेग निष्कामता, आदि सात्विक गुणों की वृद्धि करनी चाहिए। प्राणातिपात, असत्य, अदत्तादान, मैथुन, मूर्च्छा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, परपरिवाद, आदि आदि पापों का परित्याग करना चाहिए। असदाचरण से मुक्त और सदाचरण में प्रवृत होने से मनुष्य का कर्म लेप हट जाता है और वह ऊर्ध्व गति करके लोक के अग्रभाग में स्थित हो जाता है। उठना, बैठना, सोना, आदि प्रत्येक क्रिया विवेक के साथ करनी चाहिए। इसी प्रकरण में लोक प्रचलित

बाह्य क्रिया कारड के विषय में भगवान कहते हैं-

तपस्या को अग्नि बनाओ, आत्मा को अग्नि स्थान बनाओ, योग की कुड़छी करो, शरीर को ईंधन बनाओ, संयमव्यापार रूप शान्ति पाठ करो, तब प्रशस्त होम होता है।

हम सदा स्नान करते हैं, परन्तु वह हमारे अन्तःकरण को निर्मल नहीं बनाता। बाह्य शुद्धि से आन्तर शुद्धि नहीं हो सकती। भगवान कहते हैं-

आत्मा में प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले, शान्ति-तीर्थ धर्म रूपी सरोवर में जो स्नान करता है वही निर्मल, विशुद्ध और ताप-हीन होता है।

(५) ज्ञान पांच प्रकार का है—(१) मति ज्ञान (२) श्रुत ज्ञान (३) अवधि ज्ञान (४) मनःपर्याय ज्ञान और (५) केवल ज्ञान। अनुष्ठान करने से पहले सम्यग्ज्ञान अपेक्षित है—जिसे तत्त्व-ज्ञान नहीं वह श्रेय-अश्रेय को क्या समझेगा? श्रुत से ही पाप-पुण्य का, भले-बुरे का

बोध होता है। जैसे ससूत्र (डोरा सहित) सुई गिर जाने के बाद फिर मिल जाती है उसी प्रकार ससूत्र (श्रुत ज्ञान युक्त) जीव संसार में भी कष्ट नहीं पाता। अज्ञानी जीव दुःखों के पात्र होते हैं। वे मूढ़ पुरुष अनन्त संसार में भटकते फिरते हैं। मगर बिना चारित्र के भी निस्तार नहीं। अनुष्ठान को जानने मात्र से दुःख का अन्त संभव नहीं है। जो कर्तव्य परायण नहीं वे वाचनिक शक्ति से अपनी आत्मा को आश्वासन मात्र द सकते हैं। पण्डितम्मन्य बाल जीव विविध विद्याओं का स्वामी बन जाय, विद्यानुशासन सीख ले, पर इससे उसका त्राण नहीं हो सकता। ज्ञान प्राप्त कर लिया किन्तु शरीर या इन्द्रियों के विषयों की आसक्ति दूर न हुई तो दुःख ही होता है। अतएव सिद्धि सम्पादन करने के लिए सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र दोनों ही अनिवार्य है। मनुष्य को निर्मम, निरहंकार, अपरिग्रही, ठसक का त्यागी, समस्त प्राणियों पर समभावी, बनना चाहिए। लाभालाभ में सुख दुख में, जीवन-मरण में, निन्दा-प्रशंसा में, मानापमान में, जो समान रहता है,

वही सिद्धि प्राप्त करता है।'

(६) वीतराग देव हैं, सर्वथा निष्परिग्रही गुरु हैं, वीतराग द्वारा प्रतिपादित धर्म ही सच्चा है, इस प्रकार की श्रद्धा (व्यवहार) सम्यक्त्व है। परमार्थ का चिन्तन करना, परमार्थ दर्शियों की शुश्रूषा करना, मिथ्यादृष्टियों की संगति त्यागना, यह सम्यक्त्वी के लिए अनिवार्य है। मिथ्यावादी पाखण्डी, उन्मार्गगामी होते हैं। रागादि दोषों को नष्ट करने वाले वीतराग का मार्ग ही उत्तम मार्ग है। ऐसी श्रद्धा सम्यग्दृष्टि में होनी चाहिए। सम्यक्त्व अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व के बिना सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र नहीं हो सकता। सम्यक्त्व होते ही ज्ञान चारित्र सम्यक् हो जाते हैं। सम्यग्दृष्टि को शंका, आकांक्षा आदि दोषों से रहित होना चाहिए। मिथ्यादृष्टियों को आगामी भव में भी बोधि की प्राप्ति दुर्लभ होती है-सम्यक्दृष्टियों को सुलभ होती है। सम्यग् बोधि का लाभ करने के लिए जिन-वचनों में अनुराग करना चाहिए, ऊपर बताए हुए दोषों से दूर रहना चाहिए।

(७) पांच महाव्रत, कर्म का नाश करने वाले हैं। पन्द्रह कर्मादानों * का परित्याग करना चाहिए। दर्शन, व्रत, आदि पडिमाएँ पालनीय हैं। प्राणी मात्र पर क्षमा भाव रखना और अपने अपराधों की उनसे क्षमा-प्रार्थना करना आवश्यक है। इस प्रकार का आचार-परायण गृहस्थ भी देवगति प्राप्त करता है। छाल और चर्म के वस्त्र धारण करने वाला, नग्न रहने वाला, मूँड मुंडाने वाला, अथार्त् किसी भी वेष को धारण करने से ही कोई गुरु नहीं बन सकता और न उससे त्राण हो सकता है। सूर्यास्त के बाद और सूर्योदय के पहले, भोजन आदि की इच्छा भी नहीं करनी चाहिए। असली ब्राह्मण कौन है? इसका उत्तर इस अध्याय में (देखो गाथा १५ से) बड़ी सुन्दरता से दिया है। यह प्रकरण अन्ध श्रद्धालुओं की आँखे खोलने के लिए बहुत उपयोगी है।

---

* कर्मादानों का विवरण सामाजिक साम्य वाद की दृष्टि से भी पढ़िए। समाज की सुलगती हुई समस्याओं का यह पुराना समाधान है।

(८) इस अध्याय में विषयों की विषमता का विवेचन है। ब्रह्मचारी पुरुष को स्त्रियों एवं नपुसंकों के समीप नहीं रहना चाहिए। स्त्रियों संबंधी बातचीत, स्त्रियों की चेष्टाओं को देखना, परिमाण से अधिक भोजन करना, शरीर को सिंगारना, आदि बातें विष के समान हैं। बिल्लियों के बीच जैसे चूहा कुशल नहीं रह सकता उसी प्रकार स्त्रियों के बीच ब्रह्मचारी नहीं रह सकता। और की तो बात ही क्या, जिसके हाथ पैर कटे हुए हों, नाक कान बेडौल हों, ऐसी सौ वर्ष की बुढ़िया का सम्पर्क भी नहीं रखना चाहिए। जैसे मक्खी कफ़ में फँस जाती है उसी प्रकार विषयी जीव भोगों में फंसता है। परन्तु यह विषय शल्य के समान हैं, दृष्टिविष साँप के समान हैं। ये अल्पकाल सुख देकर अत्यन्त दुःखदाई हैं, अनर्थों की खान हैं। बड़ी कठिनाई से धीर-वीर पुरुष इनसे अपना पिण्ड छुड़ा पाते हैं। इस प्रकार इस अध्याय में ब्रह्मचर्य संबंधी और भी अनेक मार्मिक और प्रभावशाली वर्णन ब्रह्मचारी के पढ़ने योग्य हैं।

(९) इस अध्याय में भी विशिष्ट चरित्र का

वर्णन है। सभी प्राणी जीवित रहना चाहते हैं। अतः किसी की हिंसा करना घोर पाप है। असत्य भाषण से विश्वास पात्रता नष्ट हो जाती है। बिना आज्ञा लिए छोटी वस्तु भी नहीं लेनी चाहिए। मैथुन अधर्म का मूल है, अनेक दोषों का जनक है, अतः निर्ग्रंथों को इससे सर्वथा बचना चाहिए। लोभमूर्छा का त्याग करना चाहिए। यदि साधु खाद्य सामग्री को रात्रि में रख लेता है तो वह साधुत्व से पतित होकर गृहस्थ की कोटि में आ जाता है। साधु यद्यपि निर्ममभाव से वस्त्र पात्र आदि रखते हैं फिर भी वह परिग्रह नहीं है, क्योंकि उसमें मूर्छा नहीं है। ज्ञातपुत्र ने मूर्छा को ही परिग्रह कहा है। पृथ्वीकाय आदि का आरंभ साधु को सर्वथा ही न करना चाहिए। सच्चा साधु, आदर-सत्कार से अपना गौरव नहीं समझता और अनादर से क्रुद्ध नहीं होता। वह समभावी होता है। जाति कुल, ज्ञान या चारित्र का उसे अभिमान नहीं होना चाहिए। उच्च जाति या उच्च कुल से ही त्राण नहीं होता, यह बात साधु सदा ध्यान में रखते हैं। वह अपनी प्रशंसा की अभि·

लाषा नहीं करता। किसी के प्रति राग द्वेष नहीं करता। निर्भय और निष्कषाय होकर विचरता है।

(१०) जल्दी क्या है? आज नहीं कल कर डालेंगे, ऐसा विचार करने वाले, प्रमादी जीवों की आँखें खोलने के लिए यह अध्याय बड़े काम की चीज़ है। भगवान्, गौतम स्वामी को संबोधन करके, बड़े ही मार्मिक शब्दों में क्षण मात्र का प्रमाद न करने के लिए उपदेश करते हैं :—गौतम! पेड़ पर लगा हुआ, पका पत्ता अचानक गिर जाता है, ऐसे ही यह मानव जीवन अचानक समाप्त हो जाता है, इसलिए पल भर भी प्रमाद न कर। कुश की नोंक पर लटकता हुआ ओस का बूंद ज्यादा नहीं ठहरता, इसी प्रकार यह मानव जीवन चिरस्थायी नहीं है। अतः पल भर प्रमाद न कर। गौतम! जीवन अल्पकालीन है और वह भी नाना विघ्नों से परिपूर्ण है। इसलिए पूर्वकृत रज कर्मों को धो डालने में पल भर भी विलम्ब न कर। मानव जीवन, बहुत लम्बे समय में, बड़ी ही कठिनाई से प्राप्त होता है। अतः एक भी पल प्रमाद न कर। पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय में गया

हुआ जीव असंख्यात काल तक और वनस्पति काय गत जीव अनन्त काल तक वहाँ रह सकता है, इसलिए तू प्रमाद न कर। द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीव इस अवस्था में उत्कृष्ट असंख्य काल रह जाता है इसलिए प्रमाद न कर। पंचेन्द्रिय अवस्था में लगातार सात-आठ भव रह सकता है अतः प्रमाद न कर। इसी प्रकार देव और नरक गति में भी पर्याप्त समय रह जाता है। जब इन समस्त पर्यायों से बचकर किसी प्रकार असीम पुण्योदय से मनुष्य भव मिल जाय तो आर्यत्व की प्राप्ति होना दुर्लभ है, क्योंकि बहुत से मनुष्य अनार्य भी होते हैं। फिर पूर्ण पंचेन्द्रियाँ, उत्तम धर्म की श्रुति, श्रद्धा धर्म की स्पर्शना, आदि उत्तरोत्तर दुर्लभ हैं। शरीर जीर्ण होता जा रहा है, बाल सफेद हो रहे हैं, इन्द्रियों की शक्ति क्षीण होती जाती है, अतः पल भर भी प्रमाद न कर। चित्त का उद्वेग, विशूचिका, विविध प्रकार के आकस्मिक उत्पात आदि जीवन को घेरे हुए हैं, शरीर समय-समय नष्ट हो रहा है, अतः गौतम! प्रमाद न कर। गौतम! जल में कमल की नाईं

निर्लेप बन जा, स्नेह वृत्ति को छोड़। धन धान्य, स्त्री-पुत्र आदि का परित्याग करके तू ने अनगारिता धारण की है, उनकी पुनः कामना न करना। इस प्रकार का प्रभावशाली वर्णन पढ़कर कौन क्षण भर के लिये भी विरक्त न हो जायगा। यह सम्पूर्ण अध्याय नित्य प्रातः काल पठन करने की चीज़ है।

(११) इस अध्याय में भाषण के नियम प्रतिपादन किये गए हैं। (१) सत्य होने पर भी जो बोलने के अयोग्य हो (२) जिसमें कुछ भाग सत्य और कुछ असत्य हो, ऐसी मिश्र भाषा (३) जो सर्वथा असत्य हो, ऐसी तीन प्रकार की भाषा, बुद्धिमानों को नहीं बोलनी चाहिए। व्यवहार भाषा, अनवद्यभाषा, कर्कशता तथा संदेह रहित भाषा बोलनी चाहिए। काने को काना कहना, आदि दिल दुखाने वाली भाषा भी नहीं बोलनी चाहिए। क्रोध, मान, माया, लोभ भय आदि से भी नहीं बोलना चाहिए। बिना पूछे, दूसरे बोलने वाले के बीच में न बोले चुगली न करे।

मनुष्य काँटों को सह सकता है पर वाक् कण्ट कों का सहन करना कठिन है, पर उत्तम मनुष्य वही है जो इन्हें सहले। काँटे थोड़ी देर तक दुःख देते हैं, पर वाक्कण्टक वैर को बढ़ाने वाले, महान् भय-जनक होते हैं। इनका निकलना कठिन होता है। इसी प्रकार प्रत्यक्ष परोक्ष में अवर्णवाद करने वाली, भविष्य की निश्चयात्मक, अप्रियकारिणी भाषा भी न बोलनी चाहिए। बुरी प्रवृत्ति का त्याग कर अच्छी प्रवृत्ति में लीन रहना चाहिए। जनपद आदि सम्बन्धिनी भाषा सत्य है। क्रोधादि पूर्वक बोली हुई भाषा असत्य है। यह लोक देव निर्मित है, ब्रह्म प्रयुक्त है, ईश्वरकृत है, प्रकृति द्वारा बनाया गया है, स्वयंभू ने रचा है, अतः अशाश्वत है, ऐसा कहना असत्य है—अर्थात् लोक अनादि निधन है, किसी का बनाया हुआ नहीं है।

(१२) इस अध्याय में लेश्या-सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। कषाय से अनुरंजित मन, वचन, काय की प्रवृत्ति लेश्या कहलाती है। कर्म बन्ध में यह कारण है। इस के छः भेद हैं—कृष्ण नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। कैसे कैसे परि-

णाम वाले को कौनसी लेश्या समझनी चाहिए। इसका अच्छा निरूपण इस अध्याय में मुमुक्षु जीवों को इस वर्णन के आधार पर सदा अपने व्यापारों की जांच करते रहना चाहिए और अप्रशस्त लेश्याओं से बचना चाहिए।

(१२) इस अध्याय में कषाय का वर्णन है। क्रोध आदि चार कषाय पुनर्जन्म की जड़ को हरा भरा करते हैं। क्रोधी, मानी और मायावी जीव को कहीं शांति नहीं मिलती। लोभ पाप का बाप है। कैलाश पर्वत के समान असंख्य पर्वत सोने-चांदी के खड़े कर दिये जावें तो भी लोभी को संतोष न होगा। क्योंकि तृष्णा आकाश की तरह अनन्त है। तीन लोक की सारी पृथ्वी, धनधान्य, आदि तमाम विभूति यदि एक ही आदमी को प्रदान कर दी जाय तो भी लोभी को वह पर्याप्त न होगी। अतएव कामनाओं का त्याग करना ही श्रेयस्कर है। क्रोध, मान माया और लोभ, से संसार में भ्रमण करना पड़ता है। क्रोध प्रीति को, मान विनय को, माया मित्रता को और लोभ सब सद्‌गुणों को नाश करता है। अतएव क्षमा आदि

सद्गुणों से इन्हें दूर करना चाहिए । कौन जाने परलोक है भी या नहीं ? परलोक किसने देखा है ? विषय-सुख प्राप्त हो गया है तो अप्राप्त के लिए प्राप्त को क्यों त्यागा जाय ? ऐसा विचार करने वाले बाल जीव अन्त में दुःखों के गड्ढे में गिरते हैं। जैसे सिंह, मृग को पकड़ लेता है वैसे ही मृत्यु मनुष्य को धर दबाती है । यह मेरा है, यह तेरा है, यह करना है, यह नहीं करना है, ऐसा विचारते-विचारते ही मौत अचानक आ जाती है और यह जीवन समाप्त हो जाता है ।

(१४) जागो, जागो, जागते क्यों नहीं हो ? परलोक में धर्म-प्राप्ति होना कठिन है । क्या बूढ़े, क्या बालक, सभी को काल हर ले जाता है । कुटुम्बी-जनों की ममता में फँसे हुए लोगों को संसार में भ्रमण करना पड़ता है । कृत कर्मों से भोगे बिना पिंड नहीं छूटता । जो क्रोधादि पर विजय प्राप्त करते हैं, किसी प्राणी को हनन नहीं करते वही वीर हैं । गृहस्थी में रहकर भी यदि मनुष्य संयम में प्रवृत होता है तो उसे देवगति मिलती है । अतएव बोध को प्राप्त करो । कछुए

की भाँति संहृतेन्द्रिय बनो। मन को अपने अधीन करो। भाषा संबंधी दोषों का परित्याग करो। समस्त ज्ञान का सार और सारा विज्ञान अहिंसा में ही समाप्त हो जाता है। अतः ज्ञानी जन हिंसा से सदा बचते रहते हैं। कर्म से कर्म का नाश नहीं होता, किन्तु अकर्म-अहिंसा आदि-से ही कर्मों का क्षय होता है। मेधावी निष्कषाय पुरुष पापों से दूर ही रहते हैं। इन्द्रभूति! तत्वज्ञानी वह है जो क्या बालक और क्या वृद्ध– सभी को आत्मवत् दृष्टि से देखता है और प्रमाद रहित हो संयम को स्वीकार करता है।

(१५) मन अत्यन्त दुर्जय है। मन ही बन्ध और मोक्ष का प्रधान कारण है। जिस महात्मा ने मन को जीत लिया, समझ लीजिए उसने इन्द्रियों और कषायों को भी जीत लिया। मन, साहसी भयंकर दुष्ट अश्व की भाँति चारों तरफ दौड़ता रहता है। इसे धर्म-शिक्षा से अधीन करना चाहिए। संयमी का कर्त्तव्य है कि वह मन को असत्य विषयों से दूर रखे, सरंभ समारंभ में इसकी प्रवृत्ति न होने दे।

पराधीनता के कारण जो लोग वस्त्र गन्ध या अलंकार आदि को नहीं भोगते वे त्यागी की परमोच्च पदवी पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकते। बल्कि स्वाधीनता से प्राप्त कान्त और प्रिय भोगों को जो लात मार देता है, वही त्यागी कहलाता है। समभाव से विचरने पर भी यदि चपल मन कदाचित् संयम मार्ग से बाहर निकल जाय तो धार्मिक भावनाओं से उसे पुनः यथास्थान लाना चाहिए।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन, परिग्रह एवं रात्रिभोजन से विरत जीव ही आश्रय से बच सकता है। किसी तालाब में नया पानी प्रवेश न करे और पुराना पानी उलीच कर या सूर्य की धूप से सुखा डाला जाय तो तालाब निर्जल हो जाता है, इसी भाँति नवीन कर्मों के आश्रव को रोक देने से तथा पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा करने से जीव निष्कर्म हो जाता है। निर्जरा प्रधानता तपस्या से होती है। तपस्या दो प्रकार की है:—(१) बाह्य और (२) आभ्यन्तर। इनका विवेचन प्रसिद्ध है। रूप-गृद्ध जीव पतंग की भाँति, शब्द गृद्ध जीव हिरन की तरह, गंधगृद्ध जीव सर्प की

भाँति, रसलोलुप मत्स्य की नाईं, और स्पर्श-सुखा-भिलाषी ग्राह-ग्रस्त भैंसे की तरह अकाल-मरण-दुःख को प्राप्त होता है।

(१६) एकान्त में स्त्री के पास नहीं खड़ा होना चाहिए और न उससे बातचीत करनी चाहिए। कभी वस्त्र मिले या न मिले, पर दुःखी नहीं होना चाहिए। यदि कोई निन्दा करे तो मुनि कोप न करे, कोप करने से वह उन्हीं बाल जीवों जैसा हो जायगा। श्रमण को कोई ताड़ना करे तो विचारना चाहिए कि आत्मा का नाश कदापि नहीं हो सकता। अपने जीवन को समाप्त करने के लिए शस्त्र का उपयोग करना विष भक्षण करना, जल या अग्नि में प्रवेश करना, जन्म-मरण की-संसार की-वृद्धि करता है।

पांच कारणों से जीव को शिक्षा नहीं मिलती:-क्रोध, मान, आलस्य, रोग और प्रमाद से। आठ गुणों से शिक्षा की प्राप्ति होती है:—हंसौड़ न होना, संयमी होना, मर्मभेदी वचन न कहना, निश्शील न होना, निर्दोष-शील युक्त होना, अलोलुपता,

क्रोध हीनता, सत्यरति।

मुनि को तंत्र-मंत्र करना, स्वप्न के फल बताना, हाथ की रेखाएँ देखकर शुभ-अशुभ कहना, इत्यादि पचड़ों में नहीं पड़ना चाहिए। पापी घोर नरक में पड़ते हैं और आर्यश्रेष्ठ-धर्मी दिव्य गति प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार अध्याय में मुनि-जीवन के योग्य विविध शिक्षाएँ संगृहीत की गई हैं, जिनका उल्लेख विस्तार भय से नहीं किया जा सकता।

(१७) ऊपर अनेक स्थलों पर सदाचार का फल देवगति और असदाचार का फल नरकगति कहा गया है। इस अध्याय में इन दोनों गतियों का स्वरूप बताया गया है। नरक गति कहां है, उस का स्वरूप क्या है, कौन जीव वहां जाते हैं, कैसी-कैसी भीषण वेदनाएँ नारकी जीवों को सहनी पड़ती हैं, आदि-आदि बातें जानने के लिए इस अध्याय को अवश्य पढ़ना चाहिए इसी प्रकार देवगति का भी इसमें सुन्दर वर्णन है और अन्त में कहा गया है कि समुद्र और पानी की एक बूंद

में जितना अन्तर है उतना ही अंतर देवगति और मनुष्य गति के सुखों में है।

(१८) शिष्य को गुरु के प्रति, पुत्र को पिता के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, तथा मुक्ति क्या है, यही विषय मुख्य रूप से इस अध्याय का प्रतिपाद्य विषय है।

विनीत शिष्य वह है जो अपने गुरु की आज्ञा पाले, उनके समीप रहे, उनके इशारों से मनोभावों को ताड़कर वर्ते। गुरुजी कभी शिक्षा दें तो कुपित न हो, शांति से स्वीकार करे। अज्ञानियों से संसर्ग न रखे। अपने आसन पर बैठे २ गुरुजी से कोई प्रश्न न पूछे। बल्कि सामने आकर हाथ जोड़कर विनय के साथ पूछे। गुरुजी कदाचित् नर्म गर्म बात कहें तो अपना लाभ समझकर उसे स्वीकार करे। इसके विपरीत जो क्रोधी होता है, कलहोत्पादक बातें करता है, शास्त्र पढ़कर अभिमान करता है, मित्रों पर भी कुपित होता है असंबद्ध भाषी एवं घमण्डी होता है, तथा अन्यान्य ऐसे ही दोष से दूषित होता है वह अविनीत

शिष्य कहलाता है। विनीत शिष्य में पन्द्रह गुणों का होना आवश्यक है। (गाथा ९—१२) अनन्त ज्ञान प्राप्त करके भी अपने गुरु की सेवा अवश्य करनी चाहिए। कदाचित् आचार्य कुपित हो जाएँ तो उन्हें मना लेना चाहिए।

समस्त दुःखों का अन्त मुक्ति में होता है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र एवं सम्यक्तप, मोक्ष का मार्ग है। इन चारों में से किसी एक की कमी होने से मोक्ष प्राप्त नहीं होता। मुक्तात्मा जीव समस्त लोकालोक को जानते देखते हैं। वे पुनः संसार में नहीं आते क्योंकि कर्म सर्वथा नष्ट होने पर पुनः उत्पन्न नहीं होते, जैसे सूखा हुआ पेड़। दग्ध बीज से जैसे अंकुर नहीं होते उसी प्रकार कर्म बीज के जल जाने से भव अंकुर नहीं उत्पन्न होता। मुक्त जीव लोकाकाश के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हो जाते हैं। मुक्त जीव अमूर्त्तिक हैं, अनन्तज्ञान दर्शनधारी हैं, अनुपम सुखसम्पन्न होते हैं।

निर्ग्रंथ-प्रवचन का मूल भाग अर्द्धमागधी भाषा में है। भगवान महावीर ने तत्कालीन सर्व-

इस संस्करण साधारण जनता को धर्मतत्त्व
की विशेषता समझाने के लिए उसमें प्रच-
लित भाषा को ही अपने उपदेश के लिए चुना
था। वे सर्वज्ञ थे और उन्हें अपने पाण्डित्य के
प्रदर्शित करने की कुछ अपेक्षा नहीं थी, इसलिए
लोक भाषा को उन्होंने अपनाया। सम्भवतः यही
पहला समय था जब किसी महापुरुष ने भाषा
सम्बन्धी ऐसी उदारता दिखलाई। अस्तु। भग-
वान् के अपनाने से अर्द्धमागधी भाषा सनाथ हो
गई। उसमें जो बहुमूल्य रत्न भरे हुए हैं उन्हें
प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु लोग आजतक उसका
अभ्यास करते चले आते हैं। ऐसे अभ्यासियों की
सुविधा का लक्ष्य रख कर, संस्कृत भाषा के साथ
तुलनात्मक पद्धति से अर्द्धमागधी का अभ्यास सु-
गम बनाने के अभिप्राय से, द्वितीयावृत्ति में
गाथाओं के नीचे संस्कृत छाया भी दी जा चुकी
है। जो पाठकों को अधिक लाभप्रद सिद्ध हुई है।
परन्तु हमारे प्रेमी पाठकों का फिर भी यह आ-
ग्रह हुआ कि केवल मूल और भावार्थ वाली
पुस्तक भी प्रकाशित की जाय। तदनुसार ही यह

आवृत्ति प्रकाशित कर पाठकों की सेवा में रखी जा रही है। आशा है यह भी उसी प्रकार लाभप्रद सिद्ध होगी

शास्त्र अगाध समुद्र है इसमें अधिक से अधिक सावधानी रखने पर भी कहीं कुछ भ्रम रह ही सकता है इस संग्रह में भी अनक त्रुटियाँ रहगई होंगी। उनके लिये हम पाठकों से यही निवेदन करना चाहते हैं कि हमें उन त्रुटियों से सूचित करें और स्वयं संशोधन करके पढ़ें।

अक्षर मात्र पदस्वर हीनं,
व्यञ्जनसन्धि विवर्जितरेफम्।
साधुभिरत्र मम क्षन्तव्यम्,
को न विमुह्यति शास्त्रसमुद्रे।
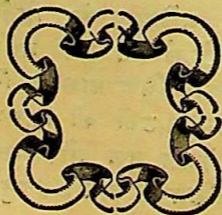
निवेदन
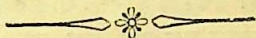
पाठको ! निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर के प्रवचनों से, आज सभी कौमों तथा सभी अवस्थाओं के जैन-अजैन नर-नारी, सर्वत्र एकसा और सुगमता पूर्वक लाभ उठा सकें, एक मात्र इसी परम पवित्र उद्देश्य को लेकर, बम्बई, पूना, अहमदनगर आदि आदि कई प्रसिद्ध शहरों के तथा गावों के बहु संख्यक सद्गृहस्थों ने प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद श्री हुक्मीचंदजी महाराज के पाटानुपाट शास्त्र विशारद बाल ब्रह्मचारी पूज्यवर श्री मन्नालालजी महाराज के पट्टाधिकारी धैर्यवान् शास्त्रज्ञ पूज्य श्री खूबचन्दजी महाराज की सम्प्रदाय के कविवर सरल स्वभावी मुनिश्री हीरालालजी महाराज के सुशिष्य जगद्वल्लभ जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनि श्री चौथमलजी महाराज से कई बार प्रार्थना की कि यदि आप जैनागमों में से चुन कर कुछ गाथाओं को एक स्थल पर संग्रह करके, उनका सुबोध तथा सरलातिसरल भाषा में एक हिन्दी अनुवाद भी कर दें, तो जैन जगत्

हा पर नहीं, वरन् जैनेतर-जनता के साथ भी आप का बड़ा भारी उपकार होगा। यदि इस प्रकार का रहस्यपूर्ण सुबोध युक्त एक ग्रन्थ प्रकाशित होकर जगत् को मिल जाय, तो जैन-जनता उससे यथोचित लाभ उठावेगी ही, परन्तु साथ ही इसके, वह जैनेतर-जनता भी जो जैन साहित्य की बानगी कुछ चख कर, जैनागमों के महा-सागर में गोता लगाना चाहती है, या गोता लगाने के लिए दीर्घ काल से बड़ी ही लालायित है, उससे किसी कदर कम लाभ नही उठावेगी इस प्रकार से, उन सद्गृहस्थों के द्वारा समय-समय के अत्याग्रह तथा निवेदन के किए जाने पर, उन्हीं जगद्वल्लभ जैन दिवाकर प्रसिद्धवक्ता पण्डित मुनीश्री चौथमलजी महाराज ने, जैनागमों का मन्थन कर कुछ ऐसी गाथाओं का संग्रह यहां किया, जो जगत् के दैनिक जीवन में प्रतिपल हितकारी सिद्ध हैं। तदनन्तर उन्हीं संग्रहीत गाथाओं का हिन्दी भाषा में अनुवाद भी उनने किया। और मुनिश्री के उन्हीं अनुवादित खर्रों पर से जिसे उनके शिष्य मनोहर व्याख्यानी युवाचार्य्य पण्डित मुनि श्री छगनलालजी महाराज और साहित्य प्रेमी गणि... पंडित

मुनिश्री प्यारचन्दजी महाराज ने इस ढाल में ढाला। उन खरों पर से लिखने में, या किसी प्रकार के दृष्टि दोष से, अथवा अन्य किसी भी प्रकार की कोई भी भूल इस अनुवाद में पाठकों को कभी जान पड़े, तो कृपया प्रकाशक को उसकी सूचना वे अवश्य दे दें। इस प्रकार की सुसूचना का प्रकाशक के हृदय में सचमुच में बड़ा ही ऊँचा स्थान होगा। और, यदि बहु संख्यक विद्वानों की राय में वह सूचना आवश्यक और उपादेय जान पड़ी, तो द्वितीयावृत्ति में उसके या उनके अनुसार उचित संशोधन भी करने का पूरा पूरा प्रयत्न किया जायगा।

प्रस्तुत अनुवाद की भाषा को सरल से भी सरल बनाने का भरसक प्रयत्न किया गया है। हमें पूरी पूरी आशा और विश्वास है कि पाठकगण इस से यथोचित लाभ उठा कर हमारे उत्साह को बढ़ाने का सत्प्रयत्न करने की कृपा दिखावेंगे।

भवदीय

कालूराम कोठारी — प्रेसिडेन्ट

मास्टर मिश्रीमल — मंत्री

श्री जैनोदय पुस्तक प्रकाशक समि[illegible] [illegible]लाम

विषय सूची

॥ णमो सिद्धीणं ॥

निर्ग्रन्थ-प्रवचन

(प्रथम अध्याय)

षट् द्रव्य निरूपण

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः—नो इंदियग्गेज्झ अमुत्तभावा।
अमुत्तभावा वि अ होइ निच्चो ॥
अज्झत्थहेउं नियथस्स बंधो।
संसारहेउं च वयंति बंधं ॥१॥

भावार्थः-हे गौतम ! यह आत्मा अमूर्ति अर्थात् वर्ण, गंध, रस और स्पर्श-रहित होने से इंद्रियों-द्वारा ग्रहण नहीं हो सकता है। और अरूपी होने से न कोई इसे पकड़ ही सकता है। जो अमूर्त अर्थात् अरूपी है, वह हमेशा अविनाशी है, सदा के लिये

कायम रहने वाला है । जो शरीरादि से इसका बंधन होता है, वह प्रवाह से आत्मा में हमेशा से रहे हुए मिथ्यात्व अव्रत आदि कषायों का ही कारण है । जैसे आकाश अमूर्त है, पर घटादि के कारण से आकाश घटाकाश के रूप में दिख पड़ता है । ऐसे ही आत्मा को भी अनादि काल के प्रवाह से मिथ्यात्वादि के कारण शरीर के बंधन-रूप में समझना चाहिए । यही बंधन संसार में परिभ्रमण करने का साधन है ।

मूलः- अप्पा नई वेयरणी,
अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणू,
अप्पा मे नंदणं वणं ॥२॥

5 20/16

भावार्थः-हे गौतम ! यही आत्मा वैतरणी नदी के समान है । अर्थात् इसी आत्मा को अपने कृत्य कार्यों से वैतरणी नदी में गोता खाने का मौका मिलता है । वैतरणी नदी का कारण-भूत

यह आत्मा ही है। इसी तरह यह आत्मा नरक में रहे हुए कूटशाल्मली वृक्ष के द्वारा होने वाले दुखों का कारण भूत है और यही आत्मा अपने शुभ कृत्यों के द्वारा कामदुग्धा गाय के समान है, अर्थात् इच्छित सुखों की प्राप्ति कराने में यही आत्मा कारण भूत है। और यही आत्मा नंदनवन के समान है अर्थात् स्वर्ग और मुक्ति के सुख सम्पन्न कराने में अपने आप ही स्वाधीन है।

5-20/37

मूलः—अप्पा कत्ता विकत्ता य,
दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च,
दुप्पट्ठिय सुपट्ठिओ ॥३॥

भावार्थः-हे गौतम ! यही आत्मा दुःखों के साधनों का कर्त्ता रूप है और उन्हें नाश करने वाला भी यही आत्मा है। यही शुभ कार्य करने से मित्र के समान है और अशुभ कार्य करने से शत्रु के सदृश हो जाता है सदाचार का सेवन करते

वाला और दुष्ट आचार में प्रवृत्त होने वाला भी यही आत्मा है ।

मूलः-न तं अरी कंठछेत्ता करेइ ।
जं से करे अप्पणिया दुरप्पया ॥
से नाहिई मच्चुमुहं तु पत्ते ।
पच्छाणुतावेण दयाविहूणो ॥ ४ ॥

5·20·48

भावार्थः-हे गौतम ! यह दुष्टात्मा जैसे जैसे अनर्थों को कर बैठता है वैसे अनर्थ एक शत्रु भी नहीं कर सकता है । क्योंकि शत्रु तो एक ही बार अपने शस्त्र से दूसरों के प्राण हरण करता है परन्तु यह दुष्टात्मा तो ऐसा अनर्थ कर बैठता है कि जिसके द्वारा अनेक जन्म-जन्मांतरों तक मृत्यु का सामना करना पड़ता है । फिर दयाहीन उस दुष्टात्मा को मृत्यु के समय पश्चात्ताप करने पर अपने कृत्य कार्यों का भान होता है कि अरे हा ! इस आत्मा ने कैसे-कैसे अनर्थ कर डाले हैं ।

5-5/15

मूलः-अप्पा चेव दमेयव्वो,

अप्पा हु खलु दुद्दमो।

अप्पा दंतो सुही होइ,

अस्सिं लोए परत्थ य ॥५॥

भावार्थः-हे गौतम! क्रोधादि के वशीभूत होकर आत्मा उन्मार्ग-गामी होता है। उसे दमन करके अपने काबू में करना योग्य है। क्योंकि निज आत्मा को दमन करना अर्थात् विषय-वासनाओं से उसे पृथक् करना महान कठिन है और जब तक आत्मा को दमन न किया जाय तब तक उसे सुख नहीं मिलता है। इसलिए हे गौतम! आत्म को दमन कर, जिस से इस लोक और परलोक में सुख प्राप्त हो।

मूलः-वरं मे अप्पा दंतो,

संजमेण तवेण य।

5/16

माहं परेहिँ दम्मंतो,
बंधणेहिं वहेहिं य ॥ ६ ॥

भावार्थः—हे गौतम ! प्रत्येक आत्मा को विचार करना चाहिए कि अपने ही आत्मा द्वारा संयम और तप से आत्मा को वश में करना श्रेष्ठ है। अर्थात् स्ववश करके आत्मा को दमन करना श्रेष्ठ है। नहीं तो फिर विषय वासना-सेवन के बाद कहीं ऐसा न हो कि उसके फल उदय होने पर इसी आत्मा को दूसरों के द्वारा बंधन आदि से अथवा लकड़ी, चाबुक, भाला बरछी आदि के घाव सहने पड़ें।

मूलः—जो सहस्सं सहस्साणं,
संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणिज्ज अप्पाणं,
एस से परमो जओ ॥७॥

59.34

भावार्थः-हे गौतम ! जो मनुष्य युद्ध में दश लक्ष सुभटों को जीत ले उस से भी कहीं अधिक विजय का पात्र वह है जो अपनी आत्मा में स्थित काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और माया आदि विषयों के साथ युद्ध करके और इन सभी को पराजित कर अपनी आत्मा को काबू में कर ले।

मूलः-अप्पाणमेव जुज्झाहि,
किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेवमप्पाणं,
जइत्ता सुहमेहए ॥ ८ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! अपनी आत्मा के साथ ही युद्ध करके क्रोध, मद, मोहादि पर विजय प्राप्त कर। दूसरों के साथ युद्ध करने से कर्म-बंध के सिवाय आत्मिक लाभ कुछ भी नहीं होता है । अतः जो अपनी आत्मा-द्वारा अपने ही मन को जीत लेता है उसीको सुख प्राप्त होता है।

मूलः-पंचिंदियाणि कोहं,
माणं मायं तहेव लोभं च।
दुज्जयं चेव अप्पाणं,
सव्वमप्पे जिए जियं॥९॥

उ९.३६

भावार्थः-हे गौतम! जो भी पांचों इन्द्रियों के विषय और क्रोध; मान, माया लोभ तथा मन ये सब दुर्जयी है। तथापि अपनी आत्मा पर विजय प्राप्त कर लेने से इन पर अनायास ही विजय प्राप्त की जा सकती है।

मूलः-सरीरमाहु नाव त्ति,
जीवो वुच्चइ नाविओ।
संसारो अण्णवो वुत्तो,
जं तरंति महेसिणो॥१०॥

5.23/73

भावार्थः-हे गौतम! इस संसार-रूप समुद्र

के परले पार जाने के लिए यह शरीर नौका के समान है जिस में बैठ कर आत्मा नाविक-रूप हो कर संसार-समुद्र को पार करता है।

मूलः-नाणं च दंसणं चेव,
चरित्तं च तवो तहा।
वीरियं उवओगो य,
एयं जीवस्स लक्खणं ॥११॥

5-28-3

भावार्थः--हे गौतम ! ज्ञान, दर्शन, तप, क्रिया और सावधानीपन, उपयोग ये सब जीव [आत्मा] के लक्षण हैं।

मूलः-जीवाऽजीवा य बंधो य
पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्जरा मोक्खो,
संतेए तहिया नव ॥ १२ ॥

5 28 . 14

भावार्थः--हे गौतम ! जीव जिस में चेतन हो। जड़ चेतना रहित।बंध जीव और कर्म का मिलना। पुण्य शुभ कार्यों द्वारा संचित शुभ कर्म। पाप दुष्कृत्य जन्य कर्म बंध आश्रव कर्म आने का द्वार। संवर आते हुए कर्मों का रुकना। निर्जरा एक देश कर्मों का क्षय होना। मोक्ष सम्पूर्ण पाप पुण्यों से छूट जाना। एकान्त सुख के भागी होना मोक्ष है।

मूलः—धम्मो अहम्मो आगासं
कालो पोग्गलजंतवो।
एस लोगु त्ति पण्णत्तो
जिणेहिं वरदंसिहिं ॥१३॥

भावार्थः--हे गौतम ! धर्मास्तिकाय जो जीव और जड़ पदार्थों को गमन करने में सहायक हो। अधर्मास्तिकाय जीव और अजीव पदार्थों

की गति को अवरोध करने में कारण भूत एक द्रव्य है। और आकाश, समय, जड और चेतन इन छः द्रव्यों को ज्ञानियों ने लोक कह कर पुकारा है।

मूलः-धम्मो अहम्मो आगासं,
दव्वं इक्किकमाहियं ।
अणंताणि य दव्वाणि य,
कालो पुग्गलजंतवो ॥ १४॥

28/8

भावार्थः-हे शिष्य! धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय और आकाशास्तिकाय ये तीनों एक एक द्रव्य है। जिस प्रकार आकाश के टुकडे नहीं होते, वह एक अखण्ड द्रव्य है, ऐसे ही धर्मास्तिकाय तथा अधर्मास्तिकाय भी एक एक ही अखण्ड द्रव्य हैं और पुद्गल अर्थात्-वर्ण, गंध, रस, स्पर्श वाला एक मूर्त्त द्रव्य तथा जीव और [अतीत व अनागत की अपेक्षा] समय, ये तीनों अनंत द्रव्य माने गये हैं।

मूलः--गइलक्खणो उ धम्मो,
अहम्मो ठाणलक्खणो ।
भायणं सव्वदव्वाणं,
नहं ओगाहलक्खणं ॥१५॥

उ·32·9

भावार्थः-हे गौतम ! जो जीव और जड़ द्रव्यों को गमन करने में सहायभूत हो उसे धर्मास्तिकाय कहते हैं। और जो ठहरने में सहायभूत हो उसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। और पाँचों द्रव्यों को जो आधार भूत हो कर अवकाश दे उसे आकाशास्तिकाय कहते हैं।

मूलः-वत्तणालक्खणो कालो,
जीवो उवओगलक्खणो ।
नाणेणं दंसणेणंच,
सुहेण य दुहेण य ॥ १६॥

उ 28·10

भावार्थः हे शिष्य ! जीव और पुद्गल मात्र के पर्याय बदलने में जो सहायक होता है उसे काल कहते हैं। ज्ञानादि का एकांश या विशेषांश जिस में हो वही जीवास्तिकाय है। जिस में उपयोग अर्थात् ज्ञानादि न सम्पूर्ण ही है और न अंश मात्र भी है, वह जड़ पदार्थ है। क्योंकि जो आत्मा है, वह सुख, दुख, ज्ञान, दर्शन का अनुभव करता है- इसी से इसे आत्मा कहा गया है और इन कारणों से ही आत्मा की पहचान मानी गई है।

मूलः सद्दंधयारउज्जोओ,
पहा छायाऽऽतवे इ वा।
वरणरसगंधफासा,
पुग्गलाणं तु लक्खणं ॥१७॥

भावार्थः-हे गौतम ! शब्द, अन्धकार, रत्ना-दिक का प्रकाश, चन्द्रादिक की कांति, शीतलता, छाया, धूप आदि ये सब और पाँचों वर्णादिक

सुगंध, पाँचों रसादिक और आठों स्पर्शादि से पुद्गल जाने जाते हैं।

मूलः-गुणाणमासओ दव्वं,
　　एगदव्वस्सिया गुणा ।
लक्खणं पज्जवाणं तु,
　　उभओ अस्सिया भवे ॥१८॥

उ. 28.6

भावार्थः-हे गौतम ! रूपादि गुणों का जो आश्रय हो, उसको द्रव्य के आश्रित रहनेवाले रूप, रस आदि ये सब गुण कहलाते हैं। और द्रव्य तथा गुण इन दोनों के आश्रित जो होता है, अर्थात् द्रव्य के अन्दर तथा गुणों के अन्दर जो पाया जाय वह पर्याय कहलाता है। अर्थात् गुण द्रव्य में ही रहता है किन्तु पर्याय द्रव्य और गुण दोनों में रहती है। यही गुण और पर्याय में अन्तर है।

मूलः-एगत्तं च पुहत्तं च,
　　संखा संठाणमेव य ।

संजोगा य विभागा य,
पज्जवाणं तु लक्खणं ॥१६॥

भावार्थः-हे गौतम ! पर्याय उसे कहते हैं, कि यह अमुक पदार्थ है, यह उस से अलग है, यह अमुक संख्या वाला है, इस आकार प्रकार का है, यह इतने समूह रूप में है, आदि ऐसा जो ज्ञान करावे वही पर्याय है। अर्थात् जैसे यह मिट्टी थी पर अब घट रूप में है। यह घट, उस घट से पृथक् रूप में है। यह घट संख्या बद्ध है। पहले नम्बर का है या दूसरे नम्बर का है। यह गोल आकार का है। यह चौरस आकार का है। यह दो घट का समूह है। यह घट उस घट से भिन्न है। आदि ऐसा ज्ञान जिस के द्वारा हो वही पर्याय है।

॥ इति प्रथमोऽध्यायः ॥

* ॐ *

कर्म निरूपण

(द्वितीय अध्याय)

मूलः-अट्ठ कम्माइं वोच्छामि,
आणुपुव्विं जहक्कमं ।
जेहिं बद्धो अयं जीवो,
संसारे परियत्तइ ॥ १ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिन कर्मों को करके यह आत्मा संसार में परिभ्रमण करता है, जिन के द्वारा संसार का अन्त नहीं होता है, वे कर्म आठ प्रकार के होते हैं। मैं उन्हें क्रमपूर्वक और उनके स्वरूप के साथ कहता हूँ।

मूलः-नाणस्सावरणिज्जं,
दंसणावरणं तहा ।

वेयणिज्जं तहा मोहं
आउकम्मं तहेव य ॥२॥
नामकम्मं च गोयं च,
अंतरायं तहेव य।
एवमेयाइ कम्माइं,
अट्ठेव उ समासओ ॥३॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिस के द्वारा बुद्धि एवं ज्ञान की न्यूनता हो, अर्थात् ज्ञान वृद्धि में बाधा रूप जो हो उसे ज्ञानावरणीय अर्थात् ज्ञान शक्ति को दबानेवाला कर्म कहते हैं। पदार्थ को साक्षात्कार करने में जो बाधा डाले, उसे दर्शनावरणीय कर्म कहा गया है। सम्यक्त्व और चारित्र को जो बिगाड़े, उसे मोहनीय कर्म कहते हैं। जन्म मरण में जो सहायभूत हो वह आयुष्कर्म माना गया है। जो शरीर आदि के निर्माण का कारण हो वह नाम कर्म है। जीव को जो लोकप्रतिष्ठित या लोकनिंद्य कुलों में उत्पन्न करने का कारण हो वह

गोत्र कर्म कहलाता है । जीव की अनंत शक्ति प्रकट होने में जो बाधक रूप हो वह अन्तराय कर्म कहलाता है । इस प्रकार ये आठों ही कर्म इस जीव को चौरासी के चक्कर में डाल रहे है ।

मूलः-नाणावरणं पंचविहं,
सुयं आभिणिबोहियं ।
ओहिनाणं च तइयं,

मणनाणं च केवलं ॥ ४ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! अब ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद कहते हैं । सो सुनो (१) श्रुतज्ञानावरणीय कर्म जिस के द्वारा श्रवण शक्ति आदि में न्यूनता हो । (२) मतिज्ञानावरणीय-जिसके द्वारा समझने की शक्ति कम हो (३) अवधिज्ञानावरणीय—जिस के द्वारा परोक्ष की बातें जानने में न आवें (४) मनः पर्यव ज्ञानावरणीय-दूसरों के मन की बात जानने में शक्ति हीन

होना (५) केवल ज्ञानावरणीय-संपूर्ण पदार्थों के जानने में असमर्थ होना। ये सब ज्ञानावरणीय कर्म के फल हैं।

हे गौतम! अब ज्ञानावरणीय कर्म बंधने के कारण बताते हैं, सो सुनो (१) ज्ञानी के द्वारा बताये हुए तत्वों को असत्य बताना, तथा उन्हें असत्य सिद्ध करने की चेष्टा करना (२) जिस ज्ञानी के द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ है उसका नाम तो छिपा देना और मैं स्वयं ज्ञानवान् बना हूँ ऐसा वातावरण फैलाना (३) ज्ञान की असारता दिखलाना कि इस में पड़ा ही क्या है? आदि कह कर ज्ञान एवं ज्ञानी की अवज्ञा करना। (४) ज्ञानी से द्वेष भाव रखते हुए कहना कि वह पढ़ा ही क्या है? कुछ नहीं। केवल ढोंगी होकर ज्ञानी होने का दम भरता है, आदि कहना (५) जो कुछ सीख पढ़ रहा हो उसके काम में बाधा डालने में हर तरह से प्रयत्न करना (६) ज्ञानी के साथ अएट सएट बोल कर व्यर्थ का झगड़ा करना। आदि आदि कारणों से ज्ञानावरणीय कर्म बंधता है।

मूलः-निद्दा तहेव पयला,
निद्दानिद्दा य पयलपयला य ।
तत्तो अ थीणगिद्धी उ,
पंचमा होइ नायव्वा ॥ ५ ॥
चक्खुमचक्खू ओहिस्स,
दंसणे केवले अ आवरणे ।
एवं तु नवविगप्पं,
नायव्वं दंसणावरणं ॥ ६ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! अब दर्शनावरणीय कर्म के भेद बतलाते हैं, सो सुनो (१) अपने आप ही नियत समय पर निद्रा से युक्त होना (२) बैठे बैठे, ऊँघना अर्थात् नींद लेना (३) नियत समय पर भी कठिनता से जागना (४) चलते फिरते ऊँघना और (५) पाँचवा भेद वह है कि सोते-सोते छः मास बीत जाना। ये सब दर्शनाव-

रणीय कर्म के फल हैं। इसके सिवाय चक्षु में दृष्टिमान्द्य या अन्धेपन आदि प्रकार की हीनता का होना तथा सुनने की, सूँघने की, स्वाद लेने की, स्पर्श करने की, शक्ति में हीनता, अवधिदर्शन होने में और केवल दर्शन अर्थात् सारे जगत को हाथ की रेखा के समान देखने में रुकावट का आना ये सब के सब नौ प्रकार के दर्शनावरणीय कर्म के फल है। हे आचार्य! जब आत्मा दर्शनावरणीय कर्म बांध लेता है तब वह जीव ऊपर कहे हुए फलों को भोगता है। अब हम यह बतावेंगे कि जीव किन कारणों से दर्शनावरणीय कर्म बांध लेता है। सुनो—(१) जिस को अच्छी तरह से दीखता है उसे भी अन्धा और काना कह कर उस के साथ विरुद्धता करना (२) जिस के द्वारा अपने नेत्रों को फायदा पहुँचा हो और न देखने पर भी उस पदार्थ का सच्चा ज्ञान हो गया हो उस उपकारी के उपकार को भूल जाना (३) जिसके पास चक्षु ज्ञान से परे अवधिदर्शन है, जिस अवधिदर्शन से वह कई भव अपने एवं औरों के देख लेता है। उसकी अवज्ञा करते हुए कहना कि,

क्या पड़ा है ऐसे अवधिदर्शन में ? (४) जिसके दुखते हुए नेत्रों के अच्छे होने में या चक्षु दर्शन स भिन्न अचक्षु के द्वारा होनेवाले दर्शन में और अवधि दर्शन के प्राप्त होने में एवं सारे जगत् को हस्तामलकवत् देखनेवाले केवल दर्शन प्राप्त करने में रोड़ा अटकाना (५) जिसको नहीं दिखता है, या कम दिखता है, उसे कहे कि इस धूर्त को अच्छा दिखता है तो भी अन्धा बन बैठा है चक्षु दर्शन से भिन्न अचक्षु दर्शन का जिसे अच्छा बोध नहीं होता हो उसे कहे कि जान बूझ कर मूर्ख बन रहा है। और जो अवधि दर्शन से भव भवान्तर के कर्त्तव्यों को जान लेता है उसको कहे कि ढोंगी है। एवं केवल दर्शन से जो प्रत्येक बात का स्पष्टीकरण करता है उसे असत्य वादी कह कर जो दर्शन के साथ द्वेष भाव करता है। (६) इसी प्रकार चक्षुदर्शनीय, अवधिदर्शनीय एवं केवल दर्शनीय के साथ जो ठट्ठा करता है।

मूलः-वेयणीयं पि दुविहं,
सायमसायं च आहियं।

सायस्स उ बहू भेया,
एमेव आसायस्स वि ॥७॥

भावार्थः-हे गौतम ! फुंसी, फोड़े, ज़्वर नेत्रशूल आदि अन्य तथा सब शारीरिक और मानसिक वेदना असातावेदनीय कर्म के फल हैं। इसी तरह निरोग रहना, चिन्ता फिक्र कुछ भी नहीं होना ये सब शारीरिक और मानसिक सुख साता वेदनीय कर्म के फल हैं। हे गौतम ! यह जीव साता और असाता वेदनीय कर्मों को किन किन कारणों से बांध लेता है, सो अब सुनो, धन सम्पत्ति आदि ऐहिक सुख प्राप्ति होने का कारण सातावेदनीय का बन्धन है। यह साता वेदनीय बन्धन इस प्रकार बँधता है-दो इन्द्रियवाले लट गिण्डोरे आदि, तीन इन्द्रियवाले मकोड़े, चिंटियें जूँ आदि, चार इन्द्रियवाले मक्खी, मच्छर, भौंरे आदि, पांच इन्द्रियवाले हाथी, घोड़े, बैल, ऊँट, गाय, बकरी आदि तथा वनस्पति स्थित जीव और पृथ्वी, पानी, आग, वायु इन जीवों को किसी प्रकार से कष्ट और शोक नहीं पहुँचाने से एवं इन

को झुराने तथा अश्रुपात न कराने से, लात घूँसा आदि से न पिटने से परितापना न देने से, इनका विनाश न करने से, सातावेदनीय का बंध होता है।

शारीरिक और मानसिक जो दुख होता है, वह असाता वेदनीय कर्म के उदय के कारणों से होता है। वे कारण यों हैं। प्राण, भूत, जीव, और सत्व इन चारों ही प्रकार के जीवों को दुःख देने से, फिक्र उत्पन्न कराने से, झुराने से, अश्रुपात कराने से, पीटने से, परिताप व कष्ट उत्पन्न कराने से असाता वेदनीय का बँध होता है।

मूलः–मोहणिज्जं पि दुविहं,
दंसणे चरणे तहा ।
दंसणे तिविहं वुत्तं,
चरणे दुविहं भवे ॥ ८ ॥

भावार्थः--हे गौतम ! मोहनीय कर्म जो जीव बांध लेता है उसको अपने आत्मीय गुणों का भान नहीं रहता है। जैसे मदिरा पान करने वाले

को कुछ भान नहीं रहता । उसी तरह मोहनीय कर्म के उदय रूप में जीव को शुद्ध श्रद्धा और क्रिया की तरफ भान नहीं रहता है । यह कर्म दो प्रकार का कहा गया है। एक दर्शन मोहनीय दूसरा चारित्र मोहनीय। दर्शन मोहनीय के तीन प्रकार और चारित्र मोहनीय के दो प्रकार होते हैं।

मूलः—सम्मत्तं चेव मिच्छत्तं,
सम्मामिच्छत्तमेव य ।
एयाओ तिण्णि पयडीओ,
मोहणिज्जस्स दंसणे ॥ ६ ॥

भावार्थः--हे गौतम! दर्शनमोहनीय कर्म तीन प्रकार का होता है। एक तो सम्यक्त्व मोहनीय इस के उदय में जीव को सम्यक्त्व की प्राप्ति तो हो जाती है, परन्तु मोहवश ऐहिक सुख के लिए तीर्थंकरों की माला जपता रहता है । यह सम्य· क्त्व मोहनीय कर्म का उदय है। यह कर्म जब तक बना रहता है तब तक उस जीव के मोक्ष के सान्नि·

ध्यकारी क्षायिक गुण को रोक रखता है। और दूसरा मिथ्यात्व मोहनीय है। इस के उदय काल में जीव सत्य को असत्य और असत्य को सत्य समझता है। और इसी लिए वह जीव चौरासी का अन्त नहीं पा सकता। चौदहवें गुणस्थान के बाद ही जीव की मुक्ति होती है। पर यह मिथ्यात्व मोहनीय कर्म जीव को दूसरे गुणस्थान पर भी पैर नहीं रखने देता। तब फिर तीसरे और चौथे गुणस्थान की तो बात ही निराली है। इसका तीसरा भेद समामिथ्यात्व मोहनीय है। इस के उदय काल में जीव सत्य असत्य दोनों को बराबर समझता है। जिससे हे गौतम! यह आत्मा न तो समदृष्टि की श्रेणी में है और न पूर्ण रूप से मिथ्यात्वी ही है। अर्थात् यह कर्म जीव को तीसरे गुणस्थान के ऊपर देखने तक का भी मौका नहीं देता है। हे गौतम! अब हम चारित्र मोहनीय के भेद कहते हैं, सो सुनो।

33/10

मूलः-चरित्तमोहणं कम्मं,
दुविहं तं विआहियं।
कसायमोहणिज्जं तु,

नौकसायं तहेव य ॥ १० ॥

भावार्थः-हे गौतम ! संसार के सम्पूर्ण वैभव को त्यागना चारित्र धर्म कहलाता है, उस चारित्र के अङ्गीकार करने में जो रोड़ा अटकाता है उसे चारित्र मोहनीय कहते हैं। यह कर्म दो प्रकार का है। एक तो क्रोधादि रूप में अनुभव आता है। अर्थात् हंसना, भोगों में आनंद मानना, धर्म में नाराजी आदि होना वह इस कर्म का उदय है।

मूलः-सोलसविहभेएणं,
कम्मं तु कसायजं।
सत्तविहं नवविहं वा,
कम्मं च नोकसायजं ॥ ११ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! क्रोधादि से उत्पन्न होने वाले कर्म के सोलह भेद हैं। अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, यों अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन के चार भेदों के साथ इसके सोलह

भेद हो जाते हैं। और नोकषाय से उत्पन्न होने वाले कर्म के सात अथवा नौ भेद कहे गये हैं। वे यों हैं। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा और वेद यों सात भेद होते हैं और वेद के उत्तर भेद (स्त्रीवेद, पुरुषवेद, नपुंसकवेद) लेने से नौ भेद हो जाते हैं। अत्यन्त क्रोध, मान, माया और लोभ करने से तथा मिथ्या श्रद्धा में रत रहने से और अव्रती रहने से मोहनीय कर्म का बंध होता है।

हे गौतम! अब हम आयुष्यकर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

मूलः—नेरइयतिरिक्खाउं,
मणुस्साउं तहेव य।
देवाउअं चउत्थं तु,
आउकम्मं चउव्विहं ॥ १२ ॥

5·33|12

भावार्थः—हे गौतम! आत्मा के नियत समय तक एक ही शरीर में रोक रखने वाले कर्म को आयुष्य कर्म कहते हैं। यह आष्ययु कर्म चार

प्रकार का है। (१) नरक योनि में रखने वाला नरकायुष्य (२) तिर्यंच योनि में रखने वाला तिर्यंचायुष्य (३) मनुष्य योनि में रखने वाला मनुष्यायुष्य और (४) देव योनि में रखने वाला देवायुष्य कहलाता है।

हे गौतम ! अब हम इन चारों जगह का आयुष्य किन किन कारणों से बँधता है उसे कहते हैं। महारम्भ करना, अत्यन्त लालसा रखना, पंचेन्द्रिय जीवों का वध करना तथा माँस खाना, आदि ऐसे कार्यों से नरकायुष्य का बंध होता है। कपट करना, कपट पूर्वक फिर कपट करना, असत्य भाषण करना, तौलने की वस्तुओं में और नापने की वस्तुओं में कमीवेशी लेना देना आदि ऐसे कार्यों के करने से तिर्यंचायुष्य का बंध होता है। निष्कपट व्यवहार करना, नम्रभाव होना, सब जीवों पर दया भाव रखना, तथा ईर्षा नहीं करना आदि कार्यों से मनुष्यायुष्य का बंध होता है। सराग संयम व ग्रहस्थ धर्म के पालने, अज्ञानयुत तपस्या करने, बिना इच्छा से भूख, प्यास आदि सहन करने तथा शील व्रत पालने से देवायुष्य

का बंध होता है।

हे गौतम ! अब हम आगे नाम कर्म का स्वरूप कहते हैं, सो सुनोः—

मूलः-नामकम्मं तु दुविहं,
सुहं असुहं च आहियं।
सुहस्स तु बहू भेया,
एमेव असुहस्स वि ॥१३॥

भावार्थः--हे गौतम ! जिस क द्वारा शरीर सुन्दराकार हो अथवा जो असुन्दराकार होने में कारण भूत हो वही नाम कर्म है। यह नाम कर्म दो प्रकार का माना गया है। उन में से एक शुभ नाम कर्म और दूसरा अशुभ नाम कर्म है। मनुष्य शरीर देव शरीर, सुन्दर अंगोपाङ्ग गौर वर्णादि, वचन में मधुरता का होना, लोकप्रिय, यशस्वी तीर्थंकर आदि आदि का होना, ये सब शुभ नाम कर्म के फल हैं। नारकीय, तिर्यंच का शरीर धारण

करना, पृथ्वी, पीना, वनस्पति आदि में जन्म लेना, बेडौल अंगोपाङ्गों का पाना, कुरूप और अयशस्वी होना। ये सब अशुभ नाम कर्म के फल हैं।

हे गौतम! शुभ अशुभ नाम कर्म कैसे बँधता है सो सुनोः-मानसिक वाचिक और कायिक कृत्य की सरलता रखने से और किसी भी प्रकार का वैर विरोध न करने व न रखने से शुभनाम कर्म बँधता है। शुभनाम कर्म के बंधन से विपरीत वर्ताव के करने से अशुभ नाम कर्म बँधता है।

हे गौतम! अब हम आगे गोत्र कर्म का स्वरूप बतलावेंगे।

33/(७)

मूलः-गोयकम्मं तु दुविहं,
उच्चं नीअं च आहिअं।
उच्चं अट्ठविहं होइ,
एवं नीअं वि आहिअं ॥१४॥

भावार्थः-हे गौतम! उच्च तथा नीच

जाति आदि मिलने में जो कारण भूत हो उसे गोत्र कर्म कहते हैं। यह गोत्र कर्म ऊंच, नीच में विभक्त होकर आठ प्रकार का होता है। ऊंच जाति और ऊंचे कुल में जन्म लेना, बलवान होना, सुन्दराकार होना, तपवान् होना, प्रत्येक व्यवहार में अर्थ प्राप्ति का होना. विद्वान् होना, ऐश्वर्यवान होना य सब ऊंचे गौत्र के फल हैं। और इन सब बातों के विपरीत जो कुछ है उसे नीच गोत्र कर्म का फलादेश समझो।

हे गौतम! वह ऊँच नीच गौत्र कर्म इस प्रकार से बँधता है। स्वकीय माता के वंश का. पिता के वंश का, ताकत का, रूप का, तप, का, विद्वत्ता का और सुलभता से लाभ होने का, घमण्ड न करने से ऊंच गोत्र कर्म का बंध होता है। और इस के विपरीत अभिमान करने से नीच गोत्र का बंध होता है। हे गौतम! अब अन्तराय कर्म का स्वरूप बतलाते हैं।

मूलः-दाणे लाभे य भोगे य,
उवभोगे वीरिए तहा।

पंचविहमंतरायं,
समासेण विश्राहियं ॥१५॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिस के उदय से इच्छित वस्तु की प्राप्ति में बाधा आवे वह अन्तराय कर्म है। इस के पाँच भेद है। दान देने की वस्तु के विद्यमान होते हुए भी दान देने का अच्छा फल जानते हुए भी, जिसके कारण दान नहीं दिया जासके वह दानान्तराय है। व्यवहार में वा माँगने में सब प्रकार की सुविधा होते हुए भी जिसके कारण प्राप्त न हो सके वह लाभान्तराय है। खान पान आदि की सामग्री के व्यवस्थित रूप से होने पर भी जिसके कारण खा पी न सके, खा और पी भी लिया तो हज़म न किया जासके, वह भोगान्तराय कर्म है। भोग पदार्थ वे हैं। जो एक बार काम में आते हैं। जैसे भोजन, पानी आदि। और जो बार बार काम में आते हैं उन्हें उपभोग माना गया है जैसे वस्त्र, आभूषण आदि। अतः जिसके उदय से उपभोग की सामग्री संघटित

रूप से स्वाधीन होते हुए भी अपने काम में न ली जा सके उसे **उपभोगान्तराय** कर्म कहते हैं। और जिसके उदय से युवान और बलवान् होते हुए भी कोई कार्य न किया जा सके, वह **वीर्यान्तराय कर्म** का फलादेश है।

हे गौतम ! यह अन्तराय कर्म निम्न प्रकार से बँधता है। दान देते हुए के बीच बाधा डालने से, जिसे लाभ होता हो उसे धक्का लगाने से, जो खा-पी रहा हो या खाने, पीने का जो समय हुआ हो उसे टालने से, जो उपभोग की सामग्री को अपने काम में ला रहा हो उसे अन्तराय देने से तथा जो सेवा धर्म का पालन कर रहा हो उस के बीच रोड़ा अटकाने से आदि-आदि कारणों से वह जीव अन्तराय कर्म बांध लेता है।

हे गौतम ! अब हम आठों कर्मों की पृथक् पृथक् स्थिति कहेंगे सो सुनो।

मूलः-उदहीसरिसनामाणं,

तीसई कोडिकोडीओ ।

उक्कोसिया ठिई होइ,
अंतोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१६॥
आवरणिज्जाण दुण्हं पि,
वेयणिज्जे तहेव य।
अंतराए य कम्मंमि,
ठिई एसा विआहिया ॥१७॥

5 33/20

भावार्थः-हे गौतम ! ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय वेदनीय और अन्तराय ये चारों कर्म अधिक से अधिक रहें तो तीस क्रोडाक्रोड़ी (तीस क्रोड़ को तीस क्रोड़ से गुणा करने पर जो गुणन-फल आवे उतने) सागरोपम की इन की स्थिति मानी गयी है। और कम से कम रहें तो अन्तर मुहूर्त्त की इनकी स्थिति होती है।

मूलः-उदहीसरिसनामाणं, 5.33/21
सत्तरिं कोडिकोडीओ ।

मोहणिज्जस्स उक्कोसा,
अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१८॥
तेत्तीसं सागरोवम,
उक्कोसेण वियाहिया ।
ठिई उ आउकम्मस्स,
अन्तोमुहुत्तं जहण्णिया ॥१९॥
5 33/23 उदहीसरिसनामाणं,
वीसई कोडिकोडीओ ।
नामगोत्ताण उक्कोसा,
अट्ठ मुहुत्ता जहण्णिया ॥२०॥

भावार्थः-हे गौतम ! मोहनीय कर्म की ज़्यादा से ज़्यादा स्थिति सत्तर क्रोड़ाक्रोड सागरोपम की है। और जघन्य (कम से कम) स्थिति अन्तर मुहूर्त्त की है आयुष्य कर्म की उत्कृष्ट स्थिति

तेतीस सागरोपम की और जघन्य अन्तर मुहूर्त्त की है। नाम कर्म एवं गोत्र कर्म की उत्कृष्ट स्थिति बीस क्रोड़ाक्रोड़ सागरोपम की है और जघन्य आठ मुहूर्त्त की कही है।

मूलः--एगया देवलोएसु,
नरएसु वि एगया ।
एगया आसुरं कायं,
अहाकम्मेहिं गच्छइ ॥२१॥

5 3/3

भावार्थः-हे गौतम ! आत्मा जब शुभ कर्म उपार्जन करता है तो वह देवलोक में जाकर उत्पन्न होता है। यदि वह आत्मा अशुभ कर्म उपार्जन करता है तो नरक में जाकर घोर यातना सहता है। और कभी अज्ञान पूर्वक बिना इच्छा से क्रिया काण्ड करता है तो वह भवनपति आदि देवों में जाकर उत्पन्न होता है। इस से सिद्ध हुआ कि यह आत्मा जैसा कर्म करता है वैसा स्थान पाता है।

मूलः--तेणे जहा संधिमुहे गहीए,
सकम्मुणा किच्चइ पावकारी ।
एवं पया पेच्च इहं च लोए,
कडाण कम्माण न मुक्ख अत्थि ॥२२॥

५४।३

भावार्थः--हे गौतम ! कर्म कैसे हैं ? जैसे कोई अत्याचारी चोर खात के मुँह पर पकड़ा जाता है, और अपने कृत्यों के द्वारा कष्ट उठाता है अर्थात् प्राणान्त कर बैठता है । वैसे ही यह आत्मा अपने किये हुए कर्मों के द्वारा इस लोक और परलोक में महान् दुःख उठाता है । क्योंकि किये हुए कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं मिलता है ।

(१) किसी समय कई एक चोर चोरी करने जा रहे थे । उन में एक सुथार भी शामिल हो गया । वे चोर एक नगर में एक धनाढ्य सेठ के यहां पहुँचे । वहां उन्होंने सैंध लगाई । सैंध लगाते लगाते दीवाल में काठ का एक पटिया दिख

उ ४/४

मूल:—संसारमावण्ण परस्स अट्ठा,
साहारणं जं च करेइ कम्मं ।

पड़ा, तब वे चोर साथ के उस सुथार से बोले कि अब तुम्हारी बारी है, पटिया काटना तुम्हारा काम है। अतः सुथार अपने शस्त्रों द्वारा काठ के पटिये को काटने लगा। अपनी कारीगरी दिखाने के लिए सैंध के छेदों में चारों ओर तीखे तीखे कंगुरे उसने बना दिये फिर वह खुद चोरी करने के लिए अन्दर घुसा। ज्योंही उसने अंदर पैर रखा, त्यों ही मकान मालिक ने उसका पैर पकड़ लिया। सुतार चिल्लाया, दौड़ो दौड़ो, और बोला— म-का—न मा—लि-क-मकान मा—लि—क ! मेरे पाँव छुड़ाओ। यह सुनते ही चोर झपटे, और लगे सर पकड़ कर खींचने। सुथार बेचारा बड़े ही झमेले में पड़ गया। भीतर और बाहर दोनों तरफ से जोरों की खींचातानी होने लगी। बस, फिर क्या था ? जैसे बीज उसने बोये फसल भी

कम्मस्स ते तस्स उ वेयकाले,
न बंधवा बंधवयं उविंति ॥२३॥

भावार्थः-हे गौतम ! संसारी आत्मा ने दूसरों के तथा अपने लिए जो दुष्ट कर्म उपार्जन किये हैं, वे कर्म जब उसके फल स्वरूप में आवेंगे उस समय जिन बन्धु बान्धवों और मित्रों के लिए तथा स्वतः के लिए वे दुष्कर्म किये थे वे कोई भी आकर पाप के फल भोगने में सम्मिलित नहीं होंगे।

मूलः-न तस्स दुक्खं विभयंति नाइओ,

वैसी ही उसे काटनी पड़ी। उस के निजू बनाये हुए सैंध के पैने पैने कंगूरों ही ने उसके प्राणों का अन्त कर दिया। आत्मा के लिए भी यही बात लागू होती है। वह भी अपने ही अशुभ कर्मों के द्वारा लोक और परलोक में महान् कष्टों के झक-झोरों में पड़ता है।

न मित्तवग्गा न सुया न बन्धवा।
इक्को सयं पच्चणुहोइ दुक्खं,
कत्तारमेव अणुजाइ कम्मं ॥२४॥

5 13/23

भावार्थः-हे गौतम ! किये हुए कर्मों का जब उदय होता है उस समय ज्ञाति जन, मित्र लोग, पुत्रवर्ग, बन्धु जन आदि कोई भी उस में हिस्सा नहीं बँटा सकते हैं। जिस आत्माने कर्म किये हैं वही आत्मा अकेला उसका फल भोगता है। यहाँ से मरने पर किये हुए कर्म करने वाले के साथ ही जाते हैं।

मूलः-चिच्चा दुपयं च चउप्पयं च,
खित्तं गिहं धणधन्नं च सव्वं।
सकम्मबीओ अवसो पयाइ,
परं भवं सुन्दरं पावगं वा ॥२५॥

5 13/24

भावार्थः-हे गौतम ! स्वकृत कर्मों के आधी-

न होकर यह आत्मा स्त्री, पुत्र, हाथी, घोड़े, खेत घर, रुपया, पैसा, धान्य, चाँदी, सुवर्ण आदि सभी को मृत्यु की गोद में छोड़ कर जैसे भी शुभाशुभ कर्म इस के द्वारा किये होते हैं उन के अनुसार, स्वर्ग तथा नरक में जाकर उत्पन होता है।

मूलः-जहा य अंडप्पभवा बलागा,
अंडं बलागप्पभवं जहा य।
एमेव मोहाययणं खु तण्हा,
मोहं च तण्हाययणं वयंति ॥२६॥

भावार्थः--हे गौतम ! जैसे अण्डे से बगुली (मादाबगुला) उत्पन्न होती है और बगुली से अण्डा पैदा होता है। इसी तरह से मोह कर्म से तृष्णा उत्पन्न होती है और तृष्णा से मोह उत्पन्न होता है। हे गौतम ! ऐसा ज्ञानीजन कहते हैं।

मूलः-रागो य दोसो वि य कम्मबीयं,

कम्मं च मोहप्पभवं वयंति ।
कम्मं च जाईमरणस्स मूलं,
दुक्खं च जाईमरणं वयंति॥२७॥

भावार्थः-हे गौतम ! वे राग और द्वेष कर्म से उत्पन होते हैं और कर्म मोह से पैदा होते हैं। यही कर्म जन्म मरण का मूल कारण है और जन्म मरण ही दुःख है, ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं। तात्पर्य यह है कि राग द्वेष और कर्म में परस्पर द्विमुख कार्य कारण भाव है। जैसे बीज, वृक्ष का कारण और कार्य दोनों है तथा वृक्ष भी बीज, का कार्य-कारण है. इसी प्रकार कर्म राग द्वेष का कार्य भी और कारण भी, तथा राग द्वेष कर्म का कार्य भी है और कारण भी है।

मूलः-दुक्खं हयं जस्स न होइ मोहो,
मोहो हओ जस्स न होइ तरहा।
तरहा हया जस्स न होइ लोहो,

लोहो हओ जस्स न किंचणाइं॥२८॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिसने दुःख रूपी भयंकर सागर का पार पा लिया है वह मोह के बन्धन में नहीं पड़ता । जिसने मोह का समूल उन्मूलन कर दिया है उसे तृष्णा नहीं सता सकती । जिसने तृष्णा का त्याग कर दिया है उस में लोभ की वासना क़ायम नहीं रह सकती । जो पाप के बाप लोभ से मुक्त हो गया, उस के सभी कुछ मानों नष्ट हो गया । निर्लोभता के कारण वह अपने को अकिंचन समझने लगता है ।

॥ इति द्वितीयोऽध्यायः ॥

* ॐ *

धर्म-स्वरूप वर्णन

(तृतीय अध्याय)

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः-कम्माणं तु पहाणाए,
आणुपुव्वी कयाई उ ।
जीवा सोहिमणुपत्ता,
आययंति मणुस्सयं ॥ १ ॥

3-317

भावार्थः—हे गौतम ! जब यह जीव अनेक जन्मों में दुःख सहन करता हुआ धीरे धीरे मनुष्य जन्म के बाधक कर्मों को नष्ट कर लेता है । तब कहीं कर्मों के भार से हलका होकर मनुष्य जन्म को प्राप्त करता है ।

57.20

मूलः- वेमायाहिं सिक्खाहिं,

जे नरा गिहिसुव्वया।
उविंति माणुसं जोणिं,
कम्मसच्चा हु पाणिणो ॥२॥

भावार्थः-हे गौतम! जो नाना प्रकार के त्याग धर्म को धारण करता है, प्रत्येक के साथ निष्कपट व्यवहार करता है, वही मनुष्य पुनः मनुष्य भव को प्राप्त हो सकता है। क्योंकि जैसे कर्म वह करता है, उसी के अनुसार गति मिलती है।

मूलः-बाला किड्डा य मंदा य,
बला पन्ना य हायणी।
पवंच्चा पभारा य,
मुम्मुही सायणी तहा ॥३॥

भावार्थः--हे गौतम! जिस समय मनुष्य की जितनी आयु हो उतनी आयु को दश भागों

में बाँटने से दश अवस्थाएँ होती है । जैसे सौ वर्ष की आयु हो तो दश वर्षों की एक अवस्था, यों दश दश वर्षों की दश अवस्थाएँ है । प्रथम बाल्यावस्था है कि जिस में खाना, पीना, कमाना, रूप आदि सुख दुख का प्रायः भान नहीं रहता है । दश वर्ष से बीस वर्ष तक खेलने कूदने की प्रायः धुन रहती है, इसलिये दूसरी अवस्था का नाम क्रीड़ावस्था है बीस वर्ष से तीस वर्ष तक अपने गृह में जो काम भोगों की सामग्री जुटी हुई है उसी को भोगते रहना और नवीन अर्थ सम्पादन करने में प्राय- बुद्धि की मन्दता रहती है, इसी से तीसरी मन्दावस्था है । तीस से चालीस वर्ष पर्यंत यदि वह स्वस्थ रहे तो उस हालत में वह कुछ बली दिखलाई देता है, इसी से चौथी बलावस्था कही गयी है । चालीस से पचास वर्ष तक इच्छित अर्थ का सम्पादन करने के लिये तथा कुटुम्ब वृद्धि के लिए खूब बुद्धि का प्रयोग करता है, इसी से पाँचवीं प्रज्ञावस्था है । ५० से ६० वर्ष तक जिस में इन्द्रिय जन्य विषय ग्रहण करने में कुछ हीनता आजाती है इसी लिए छठी हायनी अवस्था है । साठ से सत्तर वर्ष तक बार बार कफ निकलने,

थूंकने और खांसने का प्रपंच बढ़ जाता है। इसी से सत्तर से अस्सी वर्ष तक की अवस्था को प्राग्भार अवस्था कहते हैं। नौवीं अस्सी से नव्वे वर्ष तक मुम्मुखी अवस्था में जीव जरारूप राक्षसी से पूर्ण रूप से घिर जाता है। या तो इसी अवस्था में पर लोक वासी बन बैठता है। और यदि जीवित रहा तो एक मृतक के समान ही है। नव्वे से सौ वर्ष तक प्रायः दिन रात सोते रहना ही अच्छा लगता है। इसलिए दशवीं शायनी अवस्था कही जाती है।

मूलः-माणुस्सं विग्गहं लद्धु,
सुई धम्मस्स दुल्लहा।
जं सोच्चा पडिवज्जंति,
तवं खंतिमहिंसयं ॥ ४ ॥

5 3·8

भावार्थः--हे गौतम! दुर्लभ मानव देह को पा भी लिया तो भी धार्मिक तत्व का श्रवण करना

महान् दुर्लभ है। जिस के सुनने से तप, क्षमा, अहिंसा आदि करने की प्रबल इच्छा जाग उठती है।

मूलः-धम्मो मंगलमुक्किट्ठं,
अहिंसा संजमो तवो ।
देवा वि तं नमंसंति,
जस्स धम्मे सया मणो ॥४॥

दश० १-१

भावार्थः--हे गौतम ! किंचिन्मात्र भी जिस में हिंसा नहीं है, ऐसी अहिंसा, संयम और मन वचन काया के अशुभ योगों का घातक तथा पूर्वकृत पापों का नाश करने में अग्रसर ऐसा तप, ये ही जगत में प्रधान और मंगल मय धर्म के अंग हैं। बस एक मात्र इसी धर्म को हृदयंगम करने वाला मानव देवों से भी सदैव पूजित होता है, तो फिर मनुष्यों द्वारा वह पूज्य दृष्टि से देखा जाय इस में आश्चर्य ही क्या है ?

मूलः-मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुविंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहंति पत्ता,
तओ से पुप्फं च फलं रसो अ ॥६॥

भावार्थः-हे गौतम ! वृक्ष के मूल से स्कन्ध उत्पन्न होता है। तदन्तर स्कन्ध से शाखा, टहनियाँ और उसके बाद पत्ते उत्पन होते हैं। अन्त में वह वृक्ष फूलदार फलदार व रस वाला होता है।

मूलः-एवं धम्मस्स विणओ,
मूलं परमो से मुक्खो।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं,
नीसेसं चाभिगच्छइ ॥७॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार वृक्ष अपनी जड़ के द्वारा क्रमपूर्वक सरवाला होता है।

उसी प्रकार धर्म की जड़ विनय है। विनय के पश्चात ही स्वर्ग, शुक्लध्यान, क्षपक श्रेणी आदि उत्तरोत्तर गुणों के साथ रसवान वृक्ष के समान आत्मा मुक्ति रूपी रस को प्राप्त कर लेता है। जब मूल ही नहीं है तो शाखा पत्ते फूल फल रस कहाँ से होंगे। ऐसे ही जब विनय धर्म रूप मूल ही नहीं हो तो मुक्ति का मिलना महान् कठिन है। हे गौतम ! सबों के लिए विनय आदरणीय है। विनय से कीर्ति फैलती है और विनयवान् शीघ्र ही सम्पूर्ण श्रुत ज्ञान को प्राप्त करलेता है।

मूलः—अणुसंट्ठा पि बहुविहं,
मिच्छदिट्ठिया जे नरा अबुद्धिया।
बद्धानिकाइयकम्मा,
सुणंदि धम्मं न परं करेंति ॥८॥

भावार्थः--हे गौतम ! गृहस्थ धर्म और चारित्र धर्म को शिक्षित गुरु के द्वारा सुन लेने पर भी बुद्धि रहित मिथ्या दृष्टि मनुष्य केवल उन धर्मों

को सुन कर ही रह जाते हैं । उनके अनुसार अपने कर्तव्य को नहीं बना सकते हैं । क्योंकि उनके अगाढ़-निकाचित कर्म का उदय होता है ।

मूलः-जरा जाव न पीडेइ,
वाही जाव न वड्ढइ ।
जाविंदिया न हायंति,
ताव धम्मं समायरे ॥ ६ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! जब तक वृद्धावस्था नहीं सताती, धर्म घातक व्याधि की बढ़ती नहीं होती, निर्ग्रंथ प्रवचन सुनने में सहायक श्रोतेन्द्रिय तथा जीव दया पालन करने में सहायक चक्षु आदि इन्द्रियों की शिथिलता नहीं आ घेरती तब तक धर्म का आचरण बड़े ही दृढ़ता पूर्वक कर लेना चाहिए ।

मूलः-जा जा वच्चइ रयणी,

न सा पडिनिअत्तइ ।
अहम्मं कुणमाणस्स,
अफला जंति राइओ ॥१०॥

भावार्थ-हे गौतम ! जो जो रात और दिन बीत रहे हैं वह समय पीछा लौट कर नहीं आ सकता। अतः ऐसे अमूल्य समय में मानव शरीर पाकर के भी जो अधर्म करता है, तो उस अधर्म करने वाले का समय निष्फल जाता है।

5.14.25

मूलः-जा जा वच्चइ रयणी,
न सा पडिनिअत्तइ ।
धम्मं च कुणमाणस्स,
सफला जंति राइओ ॥११॥

भावार्थः-हे गौतम ! रात और दिन का जो समय जा रहा है। वह पुनः लौट कर किसी भी तरह नहीं आ सकता। ऐसा समझ कर जो

धार्मिक जीवन बिताते हैं उनका समय (जीवन) सफल है ।

मूल–सोही उज्जुअभूयस्स,
धम्मो सुद्धस्स चिट्ठइ ।
णिव्वाणं परमं जाइ,
घयसित्ति व्व पावए ॥१२॥

भावार्थः–हे गौतम ! स्वभाव को सरल रखने से आत्मा कषायादि से रहित हो कर (शुद्ध) निर्मल हो जाती है । उस शुद्धात्मा के धर्म की भी स्थिरता रहती है । जिस से उसकी आत्मा जीवन मुक्त हो जाती है । जैसे अग्नि में घी डालने से वह चमक उठती है उसी तरह आत्मा के कषायादिक आवरण दूर हो जाने से वह भी अपने केवल ज्ञान के गुणों से देदीप्यमान हो उठती है ।

मूलः–जरामरणवेगेणं,

बुज्झमाणाण पाणिणं ।
धम्मो दीवो पइट्ठा य,
गई सरणमुत्तमं ॥ १३ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! जन्म जरा, मृत्यु रूप जल के प्रवाह में डूबते हुए प्राणियों को मोक्ष की प्राप्ति कराने वाला धर्म ही निश्चल आधार भूत स्थान और उत्तम शरण रूप एक टापू के समान है।

मूलः-एस धम्मे धुवे णितिए,
सासए जिणदेसिए ।
सिद्धा सिज्झंति चाणेणं,
सिज्झिस्संति तहावरे ॥ १४ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! पूर्ण ज्ञानियों के द्वारा कहा हुआ यह ध्रुव के समान है। तीन काल में नित्य है। शाश्वत् है। इसी धर्म को अङ्गीकार कर

अनंत जीव भूत काल में कर्मों के बँधन से मुक्त हो कर सिद्ध अवस्था को प्राप्त हो गये हैं। वर्तमान काल में हो रहे हैं। और भविष्यत काल में भी इसी धर्म का सेवन करते हुए अनंत जीव मुक्ति को प्राप्त करेंगे।

इति तृतीयोऽध्यायः

* ॐ *

आत्म शुद्धि के उपाय

(चौथा अध्याय)

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-जह णरगा गम्मंति,
जे णरगा जा य वेयणा णरए।
सारीरमाणसाइं,
दुक्खाइं तिरिक्खजोणीए ॥१॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार नरक में आने वाले जीव अपने कृत कर्मों के अनुसार नरक में होने वाली महान् वेदना को सहन करते हैं, इसी तरह तिर्यंच योनि में उत्पन्न होने वाले आत्मा भी कर्मों के फल रूप में अनेक प्रकार की शारीरिक और मानसिक वेदनाओं को सहन करते हैं।

मूलः-माणुस्सं च अणिच्चं,
वाहिजरामरणवेयणापउरं।
देवे य देवलोए,
देविड्ढिं देवसोक्खाइं ॥२॥

उववाइ.

भावार्थः-हे गौतम! मनुष्य जन्म अनित्य है। साथही जरामरण आदि व्याधि की प्रचुरता से भरा पड़ा है। और पुण्य उपार्जन कर जो स्वर्ग में गये हैं, वे वहाँ अपनी देव ऋद्धि और देवता संबंधी सुखों को भोगते हैं। परन्तु आखिर व भी वहाँ से चवते हैं।

मूलः-णरगं तिरिक्खजोणिं,
माणुसभावं च देवलोगं च।
सिद्धे अ सिद्धवसहिं,
छज्जीवणियं परिकहेइ ॥३॥

उववाइ ५४

भावार्थः--हे आर्य ! जो आत्मा पाप कर्म उपार्जन करते हैं, वे नरक और तिर्यंच योनियों में जन्म लेते हैं। जो पुण्य उपार्जन करते हैं, वे मनुष्य जन्म एवं देव-गति में जाते हैं। और जो पृथ्वी, अप, तेज, वायु तथा वनस्पति के जीवों की तथा हिलते फिरते त्रस जीवों की सम्पूर्ण रक्षा कर अष्ट कर्मों को चूर चूर कर देने में समर्थ होते हैं, वे आत्मा सिद्धालय में सिद्ध अवस्था को प्राप्त होते हैं। ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

५१२६०

मूलः—जह जीवा बज्झंति,
मुच्चंति जह य परिकिलिस्संति।
जह दुक्खाणं अंतं,
करेंति केई अपडिबद्धा ॥४॥

भावार्थः--हे गौतम ! यही आत्मा कर्मों को बाँधता है, और यही कर्मों से मुक्त भी होता है। यही आत्मा कर्मों का गाढ़ लेप करके दुखी होता है, और सदाचार सेवन से सम्पूर्ण कर्मों को नाश

करके मुक्ति के सुखों का सोपान भी यही आत्मा तैयार करता है। ऐसा निर्ग्रन्थों का प्रवचन है।

३५१६।

मूलः–अट्टदुहट्टियचित्ता जह,
जीवा दुक्खसागर मुवेंति !
जह वेरग्गमुवगया,
कम्मसमुग्गं विहाडेंति ॥५॥

भावार्थः–हे गौतम ! जो आत्मा वैराग्य अवस्था को प्राप्त नहीं हुये हैं, सांसारिक भोगों में फंसे हुये हैं, वे आर्त्त रौद्र ध्यान को ध्याते हुये मानसिक कुभावनाओं के द्वारा अनिष्ट कर्मों को संचय करते हैं ! और जन्म जन्मान्तर के लिये दुःख सागर में गोता लगाते हैं। जिन आत्माओं की रग-रग में वैराग्य रस भरा पड़ा है, वे सदाचार के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को बात की बात में नष्ट कर डालते हैं।

३२।१५६

मूलः–जह रागेण कडाणं कम्माणं,

पावगो फलविवागो ।
जह य परिहीणकम्मा,
सिद्धा सिद्धालयमुवेंति ॥६॥

भावार्थः-हे आर्य ! जिस प्रकार यह आत्मा राग द्वेष करके कर्म उपार्जन कर लेता है और उन कर्मों के उदय काल में फल भी उनका चखता है वैसे ही सदाचारों से जन्म जन्मांतरों के कृत कर्मों को सम्पूर्ण रूप से नष्ट कर डालता है। और फिर वही सिद्ध हो कर सिद्धालय को भी प्राप्त हो जाता है।

सम: ३२

मूलः-आलोयण निरवलावे,
आवईसु दढ़धम्मया ।
अणिस्सिओवहाणे य,
सिक्खा निप्पडिकम्मया ॥७॥

भावार्थः-हे गौतम ! जानते में या अजा-

नते में किसी भी प्रकार दोषों का सेवन कर लिया हो तो उसको अपने आचार्य के सम्मुख प्रकट करना और आचार्य उसके प्रायश्चित रूप में जो भी दण्ड दें उसे सहर्ष ग्रहण कर लेना, अपनी श्रेष्टता बताने के लिए पुनः उस बात को दूसरों के सम्मुख नहीं कहना और अनेक आपदाओं के बादल क्यों न उमड़ आवें मगर धर्म से एक पैर भी पीछे न हटना चाहिए। ऐहिक और पारलौकिक पौद्गलिक सुखों की इच्छा रहित उपधान तप व्रत करना, सूत्रार्थ ग्रहण रूप शिक्षा धारण करना और कामभोगों के निमित्त शरीर की शुश्रूषा भूल कर भी नहीं करना चाहिये।

मूलः-अण्णायया अलोभे य,
　　तितिक्खा अज्जवे सुई ।
सम्मदिट्ठी समाही य,
　　आयारे विणओवए ॥८॥

भावार्थः-हे गौतम ! तप व्रत धारण करके

यश के लिए दूसरों को न कहना, इच्छित वस्तु पाकर उस पर लोभ न करना, दंश मशकादिकों का परिषह उत्पन्न हो तो उसे सहर्ष सहन करना, निष्कपटता पूर्वक अपना सारा व्यवहार रखना, श्रद्धा में विपरीतता न आने देना, स्वस्थ चित्त हो कर अपना जीवन बिताना, आचारवान हो कर कपट न करना और विनयी होना।

मूलः-धिईमई य संवेगे,
पणिहि सुविहि संवरे।
अत्तदोसोवसंहारे,
सव्वकामविरत्तया ॥९॥

स.३२

भावार्थः-हे गौतम ! दीन हीन वृत्ति से सदा विमुख रहना, संसार के विषयों से उदासीन हो कर मोक्ष की इच्छा को हृदय में धारण करना, मन वचन काया के अशुभ व्यापारों को रोक रखना, सदाचार सेवन में रत रहना, हिंसा, झूठ, चोरी, संग, ममत्व के द्वारा आते हुए पापों को

रोकना, आत्मा के दोषों को ढूँढ ढूँढ कर संहार करना, और सब तरह की इच्छाओं से अलग रहना।

मूलः-पच्चक्खाणे विउस्सग्गे,
अप्पमादे लवालवे।
झाणसंवरजोगे य,
उदए मारणांतिए ॥१०॥

भावार्थः--हे गौतम! त्याग धर्म की वृद्धि करते रहना, उपाधि से रहित होना, गर्व का परित्याग करना, क्षण मात्र के लिए भी प्रमाद न करना, सदैव अनुष्ठान करते रहना, सिद्धान्तों के गंभीर आशयों पर विचार करते रहना, कर्मों के निरोध रूप संवर की प्राप्ति करना और मृत्यु भी यदि सामने आखड़ी हो तब भी क्षोभ न करना।

मूलः–संगाणं य परिण्णाया,

पायच्छित्तकरणे वि य।
आराहणा य मरणंते,
बत्तीसं जोगसंगहा ॥११॥

सम ३२

भावार्थः-हे गौतम! स्वजनादि संग रूप स्नेह के परिणाम को समझ कर उसका परित्याग करना। भूल से गलती हो जावे तो उसके लिए प्रायश्चित करना, संयमी जीवन को सार्थक कर समाधि से मृत्यु लेना, ये बत्तीस शिक्षाएँ योग बल को बढ़ानेवाली हैं। अतः इन बत्तीस शिक्षाओं का अपने जीवन के साथ संबंध कर लेना मानो मुक्ति को वर लेना है।

ज्ञात ४-८

मूलः-अरहंतसिद्धपवयण
गुरूथेरबहुस्सुएतवस्सीसु।
वच्छलया यसिं,
अभिक्खणाणोवओगे य॥१२॥

भावार्थः-हे गौतम ! जो रागादि दोषों से रहित हैं । जिन्होंने घनघाती कर्मों को जीत लिया है, वे अरिहंत हैं । जिन्होंने सम्पूर्ण कर्मों को जीत लिया है वे सिद्ध हैं । अहिंसामय सिद्धान्त और पँच महाव्रतों को पालने वाले गुरु हैं । इनमें और स्थविर, बहुश्रत, तपस्वी इन सभी में वात्सल्य भाव रखता हो, इन के गुणों का हर जगह प्रसार करता हो और इसी तरह ज्ञान के ध्यान में सदा लीन रहता हो ।

मूलः-दंसणविणए आवस्सएय,
सीलव्वए निरइयारो ।
खणलवतवच्चियाए,
वेयावच्चे समाही य ॥१३॥

भावार्थः-हे गौतम ! जो शुद्ध श्रद्धा का अवलम्बी हो, नम्रता ने जिस के हृदय में निवास कर लिया हो, दोनों समय साँझ और सुबह अपने पापों की आलोचन रूप प्रतिक्रमण को जो करता

हो, निर्दोष शील व्रत को जो पालता हो, आर्त्त रौद्र ध्यान को अपनी ओर झाँकने तक न देता हो, अनशन व्रत का जो व्रती हो, या नियमित रूप से कम खाता हो, मिष्टान्न आदि का परित्याग करता हो, आदि इन बारह प्रकार के तपों में से कोई भी तप जो करता हो, सुपात्र दान देता हो, जो सेवा भाव में अपना शरीर अर्पण कर चुका हो, और सदैव चिन्ता रहित जो रहता हो।

मूलः-अपुव्वणाणगहणे,
सुयभत्ती पवयणे पभावणया।
एएहिं कारणेहिं,
तित्थयरत्तं लहइ जीओ॥१४॥

भावार्थः हे आर्य! आये दिन कुछ न कुछ नवीन ज्ञान को जो ग्रहण करता हो, सूत्र के सिद्धान्तों को आदर भावों से जो अपनाता हो, जिन शासन की प्रभावना उन्नति के लिए नये नये उपाय जो ढूँढ निकालता हो, इन्हीं कारणों

में से किसी एक बात का भी प्रगाढ रूप से सेवन जो करता हो, वह फिर चाहे किसी भी जाति व कौम का क्यों न हो, भविष्य में तिर्थंकर होता है।

मूलः—पाणाइवायमलियं,
चोरिक्कं मेहुणं दवियमुच्छं।
कोहं माणं मायं,
लोभं पेज्जं तहा दोसं ॥१५॥
कलहं अब्भक्खाणं,
पेसुन्नं रइअरइसमाउत्तं।
परपरिवायं माया,
मोसं मिच्छत्तसल्लं च ॥१६॥

भावार्थः-हे गौतम! प्राणियों के दश प्राणों में से किसी भी प्राण को हनन करना, मन वचन, काया से दूसरों के मन तक को भी दुखाना, हिंसा है। इस हिंसा से यह आत्मा मलीन होता है।

इसी तरह झूँठ बोलने से, चोरी करने से, मैथुन सेवन से, वस्तु पर मूर्छा रखने से, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष करने से और परस्पर लड़ाई झगड़ा करने से, किसी निर्दोषी पर कलंक का आरोप करने से, किसी की चुग़ली खाने से, दूसरों के अवगुणावाद बोलने से, और इसी तरह अधर्म में प्रसन्नता रखने से और धर्म में अप्रसन्नता दिखाने से, दूसरों को ठगने के लिए कपट पूर्वक झूँठ का व्यवहार करने से, और मिथ्यात्व रूप शल्य के द्वारा पीड़ित रहने से, अर्थात् कुदेव कुगुरू कुधर्म के मानने से, इन्हीं अठारह प्रकार के पापों से जकड़ा हुआ यह आत्मा नाना प्रकार के दुःख उठाता हुआ चौरासी लाख योनियों में परिभ्रमण करता रहता है।

मूलः- अज्झवसाणनिमित्ते,
आहारे वेयणापराघाते ।
फासे आणापाणू,
सत्तविहं झिज्झए आउं ॥१७॥

भावार्थः--हे आर्य ! सात कारणों से आयु अकाल में ही क्षीण होती है। वे यों हैं:—राग, स्नेह, भय पूर्वक अध्यवसाय के आने से, दंड (लकड़ी) कशा (चाबुक) शस्त्र आदि के प्रयोग से, अधिक भोजन खा लेने से, नेत्र आदि की अधिक व्याधि होने से, खड्डे आदि में गिर जाने से और उच्छ्वास निश्वास के रोक देने से।

मूलः—जह मिउलेवालित्तं,
गरुयं तुंबं अहो वयइ एवं।
आसवकयकम्मगुरू,
जीवा वच्चंति अहरगइं॥१८॥

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे मिट्टी का लेप लगने से तूँबा भारी हो जाता है, अगर उसको पानी पर रख दिया जाय तो वह उस की तह तक नीचा ही चला जायगा ऊपर नहीं उठेगा। इसी तरह हिंसा झूँठ चोरी, मैथुन और मूर्छा आदि

आश्रव-रूप कर्म कर लेने से, यह आत्मा भी भारी हो जाता है। और यही कारण है कि तब यह आत्मा अधोगति को अपना स्थान बना लेता है ।

मूलः-तं चेव तव्विमुक्कं,
जलोवरिं ठाइ जायलहुभावं।
जह तह कम्मविमुक्का,
लोयग्गपइट्ठिया होंति ॥१६॥

भावार्थः--हे गौतम ! मिट्टी के लेप से मुक्त होने पर वही तूँबा जैसे पानी के ऊपर आ जाता है,वैसे ही आत्मा भी कर्म रूपी बन्धनों से सम्पूर्ण प्रकार से मुक्त हो जाने पर लोक के अग्र भाग पर जाकर स्थित हो जाता है । फिर इस दुःखमय संसार में उसको चक्कर नहीं लगाना पड़ता।

॥ श्रीगौतमउवाच ॥

मूलः-कहं चरे ? कहं चिट्ठे ?

कहं ? आसे ? कहं सए।
कहं भुंजंतो ? भासंतो,
पावं कम्मं न बंधइ ॥२०॥

भावार्थः-हे प्रभु ! कृपा करके इस सेवक के लिए फरमावें कि किस तरह चलना, खड़े रहना, बैठना, सोना खाना और बोलना चाहिए जिस से इस आत्मा पर पाप कर्मों का लेप न चढ़ने पावे।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥ दशू ५।८

मूलः-जयं चरे जयं चिट्ठे,
जयं आसे जयं सए।
जयं भुंजंतो भासंतो
पावं कम्मं न बंधइ ॥ २१॥

भावार्थः-हे गौतम ! हिंसा, झूंठ, चोरी, आदि का जिस में तनिक भी व्यापार न हो ऐसी

सावधानी को यत्ना कहते हैं । यत्ना पूर्वक चलने से, खड़े रहने से, बैठने ने और सोने से पाप कर्मों का बँधन इस आत्मा पर नहीं होता है । इसी तरह यत्ना पूर्वक भोजन करते हुए और बोलते हुए भी पाप कर्मों का बँध नहीं होता है । अतएव, हे आर्य ! तू अपनी दिन-चर्या का खूब ही सावधानी पूर्वक बना, जिस से आत्मा अपने कर्मों के द्वारा भारी न हो ।

मूलः पच्छा वि ते पयाया
खिप्पं गच्छंति अमरभवणाइं ।
जेसिं पियो तवो संजमो
य खंती य बम्भचेरं च ॥२२॥

भावार्थः- हे आर्य ! जो धर्म की उपेक्षा करते हुए वृद्धावस्था तक पहुं उन्हें भी हताश न होना चाहिए । अगर उस अवस्था में भी वे सदाचार को प्राप्त हो जाँय, और तप, संयम, क्षमा, ब्रह्मचर्य को अपना लाड़ला साथी बना ले,

तो वे लोग देवलोक को प्राप्त हो सकते हैं।

मूलः-तवो जोई जीवो जोइठाणं
जोगा सुया सरीरं कारिसंगं।
कम्मेहा संजम जोगसंती,
होमं हुणामि इसिणं पसत्थं॥२३॥

उ. १२/२५

भावार्थः-हे गौतम ! तप रूप जो अग्नि है, वह कर्म रूप ईंधन को भस्म करती है। जीव अग्नि का कुण्ड है। क्योंकि तप रूप अग्नि जीव संबंधिनी ही है एतदर्थ, जीव ही अग्नि रखने का कुण्ड हुआ। जिस प्रकार कुड़छी स घी आदि पदार्थों को डाल कर अग्नि को प्रदीप्त करते हैं ठीक उसी प्रकार मन वचन और काया के शुभ व्यापारों के द्वारा तप रूप अग्नि को प्रदीप्त करना चाहिए। परन्तु शरीर के बिना तप नहीं हो सकता है। इसीलिये शरीर रूप कण्डे, कर्म रूप ईंधन और संयम व्यापार रूप शान्ति पाठ पढ़ करके, मैं इस प्रकार ऋषियों के द्वारा प्रशंसनीय चारित्र साधन

रूप यज्ञ को प्रतिदिन करता रहता हूँ।

मूलः- धम्मे हरए बंभे संतितित्थे,
अणाविले अत्तपसन्नलेसे।
जहिं सिणाओ विमलो विसुद्धो,
सुसीतिभूओ पजहामि दोसं।२४

5-12/56

भावार्थः-हे आर्य! मिथ्यात्वादि पापों से रहित और आत्मा के लिए प्रशंसनीय एवं उच्च भावनाओं को प्रकट करने में सहाय्य भूत ऐसा जो स्वच्छ धर्म रूप द्रह है उस में इस आत्मा को स्नान कराने से, तथा ब्रह्मचर्य रूप शान्ति-तीर्थ की यात्रा करने से शुद्ध निर्मल और रागद्वेषादि से रहित यह हो जाता है। अतः मैं भी धर्म रूप द्रह और ब्रह्मचर्य रूप तीर्थ का सेवन करके आत्मा को दूषित करने वाले अशुभ कर्मों को साँगोपाँग नष्ट कर रहा हूँ। बस, यह आत्मा शुद्धि का स्नान और उसकी तीर्थ-यात्रा है।

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

* ॐ *

ज्ञान प्रकरण

(अध्याय पाँचवा)

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः-तत्थ पंचविहं नाणं,
सुअं अभिणिबोहिअं ।
ओहिणाणं च तइअं,
मणणाणं च केवलं ॥ १ ॥

भावार्थः--हे आर्य ! ज्ञान पांच प्रकार का होता, है वे पांच प्रकार यों हः—(१) मति ज्ञान के द्वारा श्रवण करते रहने से पदार्थ का जो स्पष्ट भेदाभेद ज्ञात पड़ता है वह श्रुत ज्ञान[1] है । (२)

---

(१) नंदी सूत्र में श्रुत ज्ञान का दूसरा नम्बर है। परन्तु उत्तराध्ययनजी सूत्र म श्रुत ज्ञान को पहला

पांच इन्द्रिय के द्वारा जो ज्ञान होता है वह मति-ज्ञान कहलाता है (३) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि की मर्यादा पूर्वक रूपी पदार्थों को प्रत्यक्ष रूप से जानना यह अवधिज्ञान है । (४) दूसरों के हृदय में स्थित भावों को प्रत्यक्ष रूप से जान लेना मनःपर्यव ज्ञान है । और (५) त्रिलोक त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों को युगपत् हस्तरेखा-वत् जान लेना केवल ज्ञान कहलाता है।

मूलः-अह सव्व दव्व परिणाम
भावविण्णात्तिकारणमणंतं ।
सासयमप्पडिवाई
एगविहं केवलं नाणं ॥ २ ॥

नम्बर दिया गया है । इस का तात्पर्य यों है कि पांचों ज्ञानों में श्रुत ज्ञान विशेष उपकारी है । इस-लिए यहां श्रुत-ज्ञान को पहले ग्रहण किया है ।

भावार्थः--हे गौतम ! कैवल्य ज्ञान का एक ही भेद है। और वह सर्व द्रव्य मात्र के उत्पत्ति, विनाश, ध्रुवता और उनके गुणों एवं पारस्परिक पदार्थों की भिन्नता का विज्ञान कराने में कारण भूत है। इसी प्रकार ज्ञेय पदार्थ अनंत होने से इसे अनंत भी कहते हैं और यह शाश्वत भी है। कैवल्य ज्ञान उत्पन्न होने के पश्चात् पुनः नष्ट नहीं होता है। इसलिए यह अप्रतिपाती भी है।

मूलः-एयं पंचविहं णाणं,
दव्वाण य गुणाण य।
पज्जवाणं च सव्वेसिं,
नाणं नाणीहि देसियं ॥३॥

5.28/5

भावार्थः--हे गौतम ! संसार में ऐसा कोइ भी द्रव्य, गुण या पर्याय नहीं है जो इन पांच ज्ञानों से न जानी जा सके। प्रत्येक ज्ञेय पदार्थ यथायोग्य रूप से किसी न किसी ज्ञान का विषय होता ही है। ऐसा सभी तीर्थंकरों ने कहा है।

दृश ५/१०

मूलः-पढमं नाणं तओ दया,
एवं चिट्ठइ सव्वसंजए ।
अन्नाणी किं काही किं वा,
नाहिइ छेयपावगं ॥ ४ ॥

भावार्थः-हे गौतम पहले जीव रक्षा संबंधी ज्ञान की आवश्यकता है । क्योंकि, बिना ज्ञान के जीव रक्षा रूप क्रिया का पालन किसी भी प्रकार हो नहीं सकता, पहले ज्ञान होता है, फिर उस विषय में प्रवृत्ति होती है । संयम शील जीवन बिताने वाला मानव वर्ग भी पहले ज्ञान ही का सम्पादन करता है फिर जीव रक्षा के लिए कटिबद्ध होता है । सच है, जिन को कुछ भी ज्ञान नहीं है, वे क्या तो दया का पालन करेंगे ? और क्या हिताहित ही को पहचानेंगे ? इसलिए सब से पहले ज्ञान का सम्पादन करना आवश्यकीय है । यहाँ 'दया' शब्द उपलक्षण है, इसलिए उससे प्रत्येक क्रिया का अर्थ समझना चाहिए ।

मूलः-सोच्चा जाणइ कल्लाणं,
सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणई सोच्चा,
जं सेयं तं समायरे ॥ ५ ॥

द०श० ४/११

भावार्थः-हे गौतम! सुनने से हित अहित, मंगल अमंगल, पुण्य पाप का बोध होता है। और बोध हो जाने पर यह आत्मा अपने आप श्रेयस्कर मार्ग को अङ्गीकार कर लेता है। और इसी मार्ग के आधार पर आखिर में अनंत सुखमय मोक्षधाम को भी यह पा लेता है। इसलिए महर्षियों ने श्रुतज्ञान ही को प्रथम स्थान दिया है।

मूलः-जहा सूई ससुत्ता,
पडिआ वि न विणस्सइ।
तहा जीवे ससुत्ते,
संसारे न विणस्सइ ॥ ६ ॥

5-29/59 छोम

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार धागे वाली सुई गिर जाने पर भी खो नहीं सकती, अर्थात् पुनः शीघ्र मिल जाती है, उसी प्रकार श्रुत ज्ञान संयुक्त आत्मा कदाचित् मिथ्यात्वादि अशुभ कर्मोदय से सम्यक्त्व धर्म से च्युत हो भी जाय तो वह आत्मा पुनः रत्नत्रय रूप धर्म को शीघ्रता से प्राप्त कर लेता है। इसके अतिरिक्त श्रुत ज्ञानवान् आत्मा संसार में रहते हुए भी दुःखी नहीं होता अर्थात समता और शान्ति से अपना जीवन व्यतीत करता है।

मूलः-जावंतऽविज्जापुरिसा,
सव्वे ते दुक्खसंभवा।
लुप्पंति बहुसो मूढा,
संसारम्मि अणंतए ॥ ७ ॥

5.6.1

भावार्थः--हे गौतम ! तत्व ज्ञान से हीन जितने भी आत्मा हैं, वे सबके सब अनेकों दुःखों के भागी हैं। इस अनंत संसार की चक्रफेरी में

परिभ्रमण करते हुए वे नाना प्रकार के दुःखों को उठाते हैं। उन आत्माओं का क्षण भर के लिए भी अपने कृत कर्मों को भोगे विना छुटकारा नहीं होता है। हे गौतम ! इस तरह ज्ञान की मुख्यता बताने पर तुझे यों न समझ लेना चाहिए, कि मुक्ति केवल ज्ञान ही से होती है बल्कि उसके साथ क्रिया की भी ज़रूरत है। ज्ञान और क्रिया इन दोनों के होने पर ही मुक्ति हो सकती है।

मूलः-इहमेगे उ मराणंति,
अपच्चक्खाय पावगं।
आयरिअं विदित्ताणं,
सव्वदुक्खा विमुच्चई ॥ ८ ॥

5.6.8

भावार्थः-हे आर्य ! कई एक लोग ऐसे भी हैं, जो यह मानते हैं, कि पाप के विना ही त्यागे, अनुष्ठान मात्र को जान लेने से मुक्ति हो जाती है। पर उनका ऐसा मानना नितान्त असंगत है। क्योंकि अनुष्ठान को जान लेने ही से मुक्ति नहीं

हो जाती है। मुक्ति तो तभी होगी, जब उस विषय में प्रवृत्ति की जायगी। अतः मुक्ति पथ में ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता होती है। जिसने सद् ज्ञान के अनुसार अपनी प्रवृत्ति करली है, उस-के लिए मुक्ति सचमुच ही अति निकट हो जाती है। अकेले ज्ञान से मुक्ति नहीं होती है।

मूलः भणंता अकरिंता य,
बंधमोक्खपइण्णिणो।
वायाविरियमत्तेणं,
समासासंति अप्पयं ॥ ८ ॥

5.6.9.

भावार्थः-हे गौतम! कर्मों का बंधन और शमन एक ज्ञान ही से होता है, ऐसा दावा-प्रतिज्ञा करने वाले कई एक लोग अनुष्ठान की उपेक्षा करके यों बोलते हैं, कि ज्ञान ही से मुक्ति हो जाती है, परन्तु वे एकान्त ज्ञान वादी लोग केवल अपने बोलने की वीरता मात्र ही से अपने आत्मा को विश्वास देते हैं, कि हे आत्मा! तू कुछ भी चिन्ता मत कर। तू

पढ़ा लिखा है, बस, इसी से कर्मों का मोचन हो जावेगा। तप, जप, किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। हे गौतम ! इस प्रकार आत्मा को आश्वासन देना, मानो आत्मा को धोखा देना है। क्योंकि, ज्ञान पूर्वक अनुष्ठान करने ही से कर्मों का मोचन होता है। इसीलिए मुक्ति पथ में ज्ञान और क्रिया दोनों की आवश्यकता होती है।

मूलः—ण चित्ता तायए भासा,
कओ विज्जाणुसासणं ।
विसण्णा पावकम्मेहिं,
बाला पंडियमाणिणो ॥१०॥

5.6.10

भावार्थः-हे गौतम ! थोड़ा बहुत लिख पढ़ जाने ही से मुक्ति हो जायगी इस प्रकार का गर्व करने वाले लोग मूर्ख हैं कर्मों के आवरण ने उनके असली प्रकाश को ढाँक रक्खा है। वे यह नहीं जानते कि प्राकृत संस्कृत आदि अनेकों विचित्र भाषाओं के सीख लेने पर भी परलोक में कोई

भाषा रक्षक नहीं हो सकती है । तो फिर बिना अनुष्ठान के तांत्रिक कला-कौशल की साधारण विद्या की तो पूछ ही क्या है ? वस्तुतः साधारण पढ़ लिख कर यह कहना कि ज्ञान ही से मुक्ति हो जायगी, आत्मा को धोखा देना है, आत्मा को अधोगति में डालना है।

मूलः—जे केइ सरीरे सत्ता,
वएणे रूवे अ सव्वसो।
मणसा कायवक्केणं,
सव्वे ते दुक्खसम्भवा॥११॥

5-6.55

भावार्थः-हे गौतम! ज्ञान वादी अनुष्ठान को छोड़ देते हैं। और रूप गर्व में मदोन्मत्त होने वाले अपने शरीर को हृष्ट पुष्ट रखने के लिए वर्ण, गंध, रस, स्पर्श, आदि में मन, वचन, काया से पूरे पूरे आसक्त रहते हैं; फिर भी वे मुक्ति की आशा करते हैं। यह मृग-पिपासा है, अन्ततः ये सब दुःख ही के भागी होते हैं।

मूलः-निम्ममो निरहंकारो,
निस्संगो चत्तगारवो ।
समो अ सव्वभूएसु,
तसेसु थावरेसु य ॥ १२ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! महापुरुष वही है जिसने ममता, अहंकार, संग, बड़प्पन आदि सभी का साथ एकान्त रूप से छोड़ दिया है। और जो प्राणी मात्र पर फिर चाहे वह कीड़े मकोड़े के रूप में हो, या हाथी के रूप में सभी के ऊपर समभाव रखता है।

मूलः-लाभालाभे सुहे दुक्खे,
जीविए मरणे तहा ।
समो निंदापसंसासु,
समो माणावमाणओ ।१३।

भावार्थः-हे गौतम ! मानव देहधारियों में

उत्तम पुरुष वही है, जो इच्छित अर्थ की प्राप्ति-अप्राप्ति में, सुख दुःख में, जीवन-मरण में, निन्दा-स्तुति में, और मान अपमान में सदा समान भाव रखता है।

मूलः-अणिस्सिओ इहं लोए,
परलोए अणिस्सिओ।
वासीचंदणकप्पो अ,
असणे अणसणे तहा ॥१४॥

5 19/92

भावार्थः-हे गौतम ! मोक्षाधिकारी वे ही मनुष्य हैं, जिन्हें इस लोक के वैभवों और स्वर्गीय सुखों की चाह नहीं होती है । कोई उन्हें वसूले (शस्त्र विशेष) से छेदें या कोई उन पर चन्दन का विलेपन करें, उन्हें भोजन मिले या फाकाकशी करना पड़े, इन सम्पूर्ण अवस्थाओं में सदा सर्वदा समभाव से रहते हैं।

॥ इति पञ्चमोऽध्यायः ॥

* ॐ *

सम्यक्त्व निरूपण

(अध्याय छट्ठा)

॥ श्री भगवानुवाच ॥

मूलः-अरिहंतो महदेवो,
जावज्जीवाए सुसाहुणो गुरुणो ।
जिणपण्णत्तं तत्तं,
इअ सम्मत्तं मए गहियं ।१।

भावार्थः-हे गौतम! कर्म रूप शत्रुओं को नष्ट करके जिन्होंने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया है और जो अष्टादश दोषा से रहित हैं वही मेरे देव हैं । पांच महाव्रतों को यथा योग्य पालन करते हों वह मेरे गुरु हैं । और वीतराग के कहे हुए तत्त्व ही मेरा धर्म ह । ऐसी दृढ श्रद्धा को सम्यक्त्व कहते हैं । इस प्रकार के सम्यक्त्व को जिसने हृदयंगम कर

लिया है, वही सम्यक्त्व धारी है

मूलः-परमत्थसंथवो वा,
सुदिट्ठपरमत्थसेवणा वावि ।
वावरणकुदंसणवज्जणा,
य सम्मत्तसद्दहणा ॥ २ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! फिर जो बारंबार तात्विक पदार्थ का चिन्तवन करता है। और जो अच्छी तरह से तात्विक अर्थ पर पहुँच गये हैं, उनकी यथा योग्य सेवा शुश्रूषा करता हो, तथा जो सम्यक्त्व दर्शन से पतित हो गये हैं, व जिन का " दर्शन सिद्धान्त " दूषित है, उनकी संगति का त्याग करता हो वही सम्यक्त्व पूर्वक श्रद्धावान् है।

मूलः-कुप्पवयणपासंडी,
सव्वे उम्मग्गपट्ठिआ ।
सम्मग्गं तु जिणक्खायं,

एस मग्गे हि उत्तमे ॥ ३ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! हिंसामय दूषित वचन बोलने वाले हैं वे सभी उन्मार्ग गामी हैं । राग द्वेष रहित और आप्त पुरुषों का बताया हुआ मार्ग ही सन्मार्ग है । वही मार्ग सब से उत्तम है, ऐसी जिसकी निश्चय पूर्वक मान्यता है वही सम्यक् श्रद्धावान् है ।

मूलः-तहिआणं तु[1] भावाणं,
सब्भावे उवएसणं ।
भावेण सद्दहंतस्स,
सम्मत्तं तं विआहिअं ॥४॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिसकी भावना विशुद्ध है उसके द्वारा कहे हुए यथार्थ पदार्थों को जो भावना पूर्वक श्रद्धा के साथ मानता हो, वही

१-तुशब्दस्तुपादपूर्त्यर्थे ।

सम्यक्त्वी है ऐसा सभी तीर्थंकरों ने कहा है।

मूलः-निस्सग्गुवएसरुई,
　　आणरुई सुत्तबीअरुइमेव ।
अभिगमवित्थाररुई,
　　किरियासंखेवधम्मरुई ॥५॥

२८|१६

भावार्थः-हे गौतम ! उपदेश श्रवण न करके स्वभाव से ही तत्व की रुचि होने पर किसी किसी को सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। किसीको उपदेश सुनने से, किसी को भगवान की इस प्रकार की आज्ञा है ऐसा, सुनने से, सूत्रों के श्रवण करने से, एक शब्द को जो बीज की तरह अनेक अर्थ बताता हो ऐसा वचन सुनने से, विशेष विज्ञान हो जाने से, विस्तार पूर्वक अर्थ सुनने से, धार्मिक अनुष्ठान करने से, संक्षेप अर्थ सुनने से, श्रुत धर्म के मनन पूर्वक श्रवण करने से तत्वों की रुचि होने पर सम्यक्त्व की प्राप्ति होती है।

मूलः-नत्थि चरित्तं सम्मत्तविहूणं,
दंसणे उ भइअव्वं।
सम्मत्तचरित्ताइं,
जुगवं पुव्वं व सम्मत्तं ॥६॥

२८|२९

भावार्थः-हे आर्य ! सम्यक्त्व के बिना चारित्र का उदय होता ही नहीं है। पहले सम्यक्त्व होगा, फिर चारित्र हो सकता है, और सम्यक्त्व में चारित्र का भावाभाव है, क्योंकि सम्यक्त्वी कोई ग्रहस्थ धर्म का पालन करता है, और कोई मुनि धर्म का। सम्यक्त्व और चारित्र की उत्पत्ति एक साथ भी होती है। अथवा चारित्र, के पहले भी सम्यक्त्व की प्राप्ति हो सकती है।

मूलः-नादंसणिस्स नाणं,
नाणेण विणा न होंति चरणगुणा।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो,
नत्थि अमुक्कस्स निव्वाणं ॥७॥

३४

भावार्थः-हे गौतम ! सम्यक्त्व के प्राप्त हुए बिना मनुष्य को सम्यक् ज्ञान नहीं मिलता है, ज्ञान के बिना आत्मिक गुणों का प्रकट होना दुर्लभ है। बिना आत्मिक गुण प्रकट हुए उसके जन्म जन्मान्तरों के संचित कर्मों का क्षय होना दुःसाध्य है। कर्मों का नाश हुए बिना किसी को मोक्ष नहीं मिल सकता है अतः सब के पहले सम्यक्त्व की आवश्यकता है।

मूलः निस्संकिय-निक्कंखिय-
निव्वितिगिच्छा अमूढदिट्ठी य।
उववूह—थिरीकरणे,
वच्छल्लपभावणे अट्ठ ॥ ८ ॥

३।

भावार्थः हे आर्य ! सम्यक्त्वधारी वही है, जो शुद्ध देव, गुरु, धर्म रूप तत्वों पर निःशंकित हो कर श्रद्धा रखता है। कुदेव कुगुरु कुधर्म रूप जो अतत्त्व हैं, उन्हें ग्रहण करने की तनिक

भी अभिलाषा नहीं करता है । गृहस्थ-धर्म या मुनि धर्म से होने वाले फलों में जो कभी भी संदेह नहीं करता । अन्य दर्शनी को धन सम्पत्ति से भरा पूरा देख कर जो ऐसा विचार नहीं करता कि मेरे दर्शन से इस का दर्शन ठीक है, तभी तो यह इतना धनवान् है, सम्यकत्वधारियों की यथायोग्य प्रशंसा कर के जो उन के सम्यकत्व के गुणों की वृद्धि करता है, सम्यकत्व से पतित होते हुए अन्य पुरुष को यथा शक्ति प्रयत्न करके सम्यकत्व में जो दृढ़ करता है । स्वधर्मी जनों की सेवा शुश्रूषा करके जो उनके प्रति वात्सल्य भाव दिखाता है ।

मूलः-मिच्छादंसणरत्ता,
सनियाणा हु हिंसगा ।
इय जे मरंति जीवा,
तेसिं पुण दुल्लहा बोही ॥६॥

भावार्थ-हे आर्य ! कुदेव कुगुरु कुधर्म में

रत रहने वाले और निदान सहित धर्म क्रिया करने वाले, एवं हिंसा करने वाले जो जीव हैं, वे इस प्रकार अपनी प्रवृत्ति करके मरते हैं, तो फिर उन्हें अगले भव में सम्यक्त्व बोध का मिलना महान् कठिन है।

मूलः—सम्मद्दंसणरत्ता अनियाणा,
सुक्कलेसमोगाढा ।
इय जे मरंति जीवा,
सुलहा तेसिं भवे बोही ॥१०॥

3⁶/256

भावार्थः-हे गौतम ! जो शुद्ध देव, गुरु, और धर्म रूप दर्शन में श्रद्धा पूर्वक सदैव रत रहता हो। निदान-रहित तप, धर्म क्रिया करता हो, और शुद्ध परिणामों से जिसका हृदय उमँग रहा हो। इस तरह प्रवृत्ति रख करके जो जीव मरते हैं; उन्हें धर्म बोध की प्राप्ति अगले भव में सुगमतासे होती जाती है।

मूल-जिणवयणे अणुरत्ता,
जिणवयणं जे करिंति भावेणं।
अमला असंकिलिट्ठा,
ते होंति परित्तसंसारी ॥११॥

36/258

भावार्थः-हे आर्य ! जो वीतराग के कहे हुए वचनों में अनुरक्त रह कर उनके वचनों को प्रमाण भूत मानते हैं, तथा मिथ्यात्व रूप दुर्गुणों से बचते हुए राग द्वेष से दूर रहते हैं, वे ही सम्यक्त्व को प्राप्त करके, अल्प समय में ही मोक्ष प्राप्त करते हैं।

मूलः-जातिं च वुड्ढिं च इहज्ज पास,
भूतेहिं जाण पडिलेह सायं।
तम्हाऽतिविज्जो परमंति णच्चा,
सम्मत्तदंसी ण करेति पावं ॥१२॥

आ॰ श्रु॰ 3/उद्देश-2

भावार्थः-हे गौतम ! इस संसार में जन्म

और मरण के महान् दुखों को तू देख और इस बात का ज्ञान प्राप्त कर कि सब जीवों को सुख प्रिय है और दुख अप्रिय है। इस लिये ज्ञानी जन मोक्ष के मार्ग को जान कर, सम्यक्त्व धारी बन कर किंचित् मात्र भी पाप नहीं करते हैं।

मूलः—इओ विद्धंसमाणस्स,
पुणो संबोहि दुल्लहा ।
दुल्लहाओ तहच्चाओ,
जे धम्मट्ठं वियागरे ॥ १३ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! जो जीव सम्यक्त्व से पतित होकर यहां से मरता है। उसको फिर धर्म बोध की प्राप्ति होना महान् कठिन है। इससे भी यथातथ्य धर्म रूप अर्थ का प्रकाशन जिस मानव शरीर से होता रहता है। ऐसा मनुष्य देह अथवा सम्यक्त्व की प्राप्ति के योग्य उच्च लेश्याओं (भावनाओं) का आना महान् कठिन है।

॥ इति षष्ठोऽध्याय ॥

* ॐ *

धर्म निरूपण

(अध्याय सातवां)

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-महव्वए पंच अणुव्वए य,
तहेव पंचासवसंवरे य ॥
विरतिं इह स्सामणियंमि पन्ने,
लवावसक्की समणेत्तिबेमि ॥१॥

भावार्थः-हे मनुजो ! सच्चारित्र के पालन करने में महा बुद्धिशाली और कर्मों को नष्ट करने में समर्थ ऐसे श्रमण भगवंत महावीर ने इस शासन में साधुओं के लिए तो पांच महाव्रत अर्थात् अहिंसा, सत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य, और अकिंचन का पूर्ण रूप से पालने की आज्ञा दी है, और गृहस्थों के लिए कम से कम पांच अणुव्रत और सात शिक्षा व्रत या बारह प्रकार से धर्म को धारण

करना आवश्यकीय बताया है। वे इस प्रकार हैं-
थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं-हिलते फिरते
त्रस जीवों की बिना अपराध के देख भाल कर
द्वेष वश मारने की नियत से हिंसा न करना। मुसा:
वायाओ वेरमणं-जिस भाषा से अनर्थ पैदा होता
हो और राज एवं पंचायत में अनादर हो, ऐसी
लोक विरुद्ध असत्य भाषा को तो कम से कम नहीं
बोलना। थूलाओ अदिन्नादाणाओ वेरमणं-गुप्त
रीति से किसी के घर में घुस कर, गांठ खोल कर
ताले पर कुंजी लगा कर, लुटेरे की तरह या और
भी किसी तरह की जिससे व्यवहार मार्ग में भी
लज्जा हो, ऐसी चोरी तो कम से कम नहीं करना।
सदारसंतोसे * कुल के अग्रसरों की साक्षी से जिसके

* गृहस्थ-धर्म पालन करने वाली महिलाओं
के लिए भी अपने कुल के अग्रसरों की साक्षी से
विवाहित पुरुष के सिवाय समस्त पुरुष वर्ग को
पिता भ्राता और पुत्र के समान समझना चाहिए।
और स्वपति के साथ भी कम से कम पर्व तिथियों
पर कुशील सेवन का परित्याग करना चाहिए।

साथ विवाह किया है उस स्त्री के सिवाय अन्य स्त्रियों को माता एवं बहिन और बेटी की निगाह से देखना और अपनी स्त्री के साथ भी कम से कम अष्टमी, चतुर्दशी, एकादशी, बीज, पंचमी, अमावस्या, पूर्णिमा के दिन का संभोग त्याग करना। इच्छापरिमाण-खेत, कूए, सोना, चांदी, धान्य, पशु, आदि सम्पत्ति का कम से कम जितनी इच्छा हो उतनी ही का परिमाण करना, ताकि परिमाण से अधिक सम्पत्ति प्राप्त करने की लालसा रुक जाय। यह भी गृहस्थ का एक धर्म है। गृहस्थ को अपने छट्ठे धर्म के अनुसार, दिग्विजय-चारों दिशा और ऊंची नीची दिशाओं में गमन करने का नियम कर लेना। सातवें में उपभोगपरिभोग परिमाण-खाने पीने की वस्तुओं की और पहनने की वस्तुओं की सीमा बांधना ऐसा करने से कभी वह तृष्णा के साथ भी विजय प्राप्त कर लेता है। फिर उससे मुक्ति भी निकट आ जाती है। इसका विशेष विवरण यों है:—

अ।१२५।५

मूलः-इंगाली, वण, साडी,

भाडी फोडी सुवज्जए कम्मं ।
वाणिज्जं चेव य दंत-
लक्खरसकेसविसविसयं ॥२॥

भावार्थः-हे आर्य ! गृहस्थ धर्म पालन करने वालों को कोलसे तैयार करवा कर बेचने का या कुम्हार, लुहार, भड़भूंजे आदि के काम जिनमें महान् अग्नि का आरंभ होता है, नहीं करना चाहिए। वन, झाड़ी, कटवाने का ठेका वग़ैरह लेने का, इक्के, गाड़ी, वग़ैरह तैयार करवा कर बेचन का, बैल, घोड़े, ऊँट आदि को भाड़े से फिराने का, या इक्के गाड़ी, वग़ैरह भाड़े फिरा कर के आजीविका कमाने का और खानें आदि को खुदवाने का कर्म आजीवन के लिए छोड़ देना चाहिए। और व्यापार सबन्ध में हाथी-दांत, चमड़ आदि का, लाख का, मदिरा शहद आदि का, कबूतर, बटेर, तोते, कुक्कट, बकरे आदि का, संखिया, वच्छनाग आदि जिनके खाने से मनुष्य मर जाते हैं ऐसे ज़हरीले पदार्थों का, या तलवार, बन्दूक,

बरछी आदि का व्यापार कम से कम गृहस्थ-धर्म पालन करने वाले को कभी भूल कर भी नहीं करना चाहिए।

मूलः-एवं खु जंतपिल्लणकम्मं,
निल्लंछणं च दवदाणं।
सरदहतलायसोसं,
असइपोसं च वज्जिज्जा॥३॥

भावार्थः-हे गौतम ! ऐसे कई प्रकार का यंत्र हैं, कि जिनके द्वारा पंचेन्द्रियों के अवयवों का छेदन भेदन होता हो, अथवा यंत्रादिकों के बनाने से प्राणियों को पीड़ा हो, आदि ऐसे यंत्र संबंधी धँधों का गृहस्थ-धर्म पालन करनेवालों को परित्याग कर देना चाहिए और बैल आदि को नपुंसक अर्थात् खसी करने का, दावानल सुलगाने का, बिना खोदी हुई जगह पर पानी भरा हुआ हो, ऐसा सर, एवं खूब जहां पानी भरा हुआ हो, ऐसा द्रह तथा तालाब, कूआ, बावड़ी आदि जिस

के द्वारा बहुत से जीव पानी पीकर अपनी तृषा बुझाते है। उनकी पाल फोड़ कर पानी निकाल देने का, दासी वेश्या आदि की व्यभिचार के निमित्त या चूहों को मारने के लिए बिल्ली आदि का पोषण करना, आदि आदि कर्म गृहस्थी को जीवन भर के लिए छोड़ देना ही सच्चा गृहस्थ-धर्म है। गृहस्थ का आठवाँ धर्म अणत्थदंडवेरमणं-हिंसक विचारों, अनर्थकारी बातों आदि का परित्याग करना है। गृहस्थ का नौवाँ धर्म यह है, कि सामाइयं-दिन भर में कम से कम एक अन्तमुहूर्त्त (४८ मिनिट) तो ऐसा बितावें कि संसार से बिलकुल ही विरक्त हो कर उस समय वह आत्मिक गुणों का चिन्तवन कर सके। गृहस्थ का दशवां धर्म है देसावगासियं-जिन पदार्थों की छूट[1] रक्खी है, उनका फिर भी त्याग करना और निर्धारित समय के लिए सांसारिक झँझटों से प्रथक् रहना। ग्यारहवाँ धर्म यह है, कि पोसहोववासे-कम से कम महीने भर में प्रत्येक अष्टमी

१-आगार

चतुर्दशी पूर्णिमा और अमावस्या को पौषध करे* अर्थात् इन दिनों में वे सम्पूर्ण सांसारिक झंझटों को छोड़ कर अहोरात्रि आध्यात्मिक विचारों का मनन किया करें। और बारहवां गृहस्थ का धर्म है कि अतिहिसंयअस्सविभागे अपने घर आये हुए अतिथि का सत्कार कर उन्हें भोजन दे देते रहें। इस प्रकार गृहस्थ को अपने गृहस्थ धर्म का पालन करते रहना चाहिए।

यदि इस प्रकार गृहस्थ का धर्म पालन करते हुए कोई उत्तीर्ण हो जाय और वह फिर आगे बढ़ना चाहे तो इस प्रकार प्रतिमा धारण कर गृहस्थ जीवन को सुशोभित करे।

मूलः-दंसणवयसामाइय-
पोसहपडिमा य बंभ अचित्ते।

---

* The 11th vow of a layman in which he has to abandon all sinful activities for a day and has to remain in a Religious place fasting]

आरंभपेसउद्दिट्ठ वज्जए
समणभूए -य ॥ ४ ॥

प्रेष्य २५ ९-५४

भावार्थः-हे गौतम !, गृहस्थ धर्म की ऊंची पायरी पर चढ़ने की विधि इस प्रकार है:— पहले अपनी श्रद्धा की ओर दृष्टिपात करके वह देख ले, कि मेरी श्रद्धा में कोई भ्रम तो नहीं है। इस तरह लगातार एक महिने तक श्रद्धा के विषय में ध्यान पूर्वक अभ्यास वह करता रहे। फिर उस के बाद दो मास तक पहले लिये हुए व्रतों को निर्मल रूप से पालने का अभ्यास वह करे। तीसरी पडिमा में तीन मास तक यह अभ्यास करे कि किसी भी जीव पर राग द्वेष के भावों को वह न आने दे। अर्थात् इस प्रकार अपना हृदय सामायिक मय बना ले। चौथी पडिमा में चार महीने में छः छः के हिसाब से पौषध करे। पांचवीं पडिमा में पांच महीने तक इन पांच बातों का अभ्यास करे। (१) पौषध में ध्यान करे, (२) शृंगार के निमित्त स्नान न करे (३) रात्रि भोजन न

करे (४) पौषध के सिवाय और दिनों में दिनका ब्रह्मचर्य पाले, (५) रात्रि में ब्रह्मचर्य की मर्यादा करता रहे। छठी पडिमा में छः महीने तक सब प्रकार से ब्रह्मचर्य के पालन करने का अभ्यास करे। सातवीं पडिमा में सात महीने तक सचित्त भोजन न खाने का अभ्यास करे। आठवीं पडिमा में आठ महीने तक स्वतः कोई आरंभ न करे। नौवीं पडिमा में नौ महीने तक दूसरों से भी आरम्भ न करावे। दशवीं पडिमा में दश महीने तक अपने लिए किया हुआ भोजन न खावे। ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह महीने तक साधु के समान क्रियाओं का पालन करता रहे। शक्ति हो तो बालों का लोच भी करे, नहीं शक्ति हो तो हजामत करवाले, खुली दण्डी का रजोहरण बगल में रक्खे। मुँह पर मुँह-पत्ती बंधी हुई रक्खे। और ४२ दोषों को टाल कर अपने ज्ञाति वालों के यहां से भोजन लावे, इस प्रकार उत्तरोत्तर गुण बढ़ाते हुए प्रथम पडिमा में एकान्तर तप करे और दूसरी पडिमा में दो महीने तक बेले बेले पारणा करे। इसी तरह ग्यारहवीं पडिमा में ग्यारह महीने

तक ग्यारह ग्यारह उपवास करता रहे। अर्थात् एक दिन भोजन करे फिर ग्यारह उपवास करे। फिर एक दिन भोजन करे। यों लगातार ग्यारह महीने तक ग्यारह का पारणा करे।

इस प्रकार गृहस्थ धर्म पालते पालते अपने जीवन का अंतिम समय यदि आ जाय तो अप-च्छिमा मरणंतिआ संलेहणा झूसणाराहणा-स। सांसारिक व्यवहारों का सब प्रकार से आजन्म के लिए परित्याग करके संथारा * (समाधि) धारण करले, और अपने त्याग धर्म में किसी भी प्रकार की दोषापत्ति भूल से यदि हो गयी हो, तो आलो-चक के पास उन बातों को प्रकाशित कर दे। जो वे प्रायश्चित्त उसके लिए दें उसे स्वीकार कर अपनी आत्मा को निर्मल बनावे फिर प्राणी मात्र पर यों मैत्री भाव रक्खे।

---

* [Act of meditating that a particular person may die in an undistracted con-dition of mind]

आवश्यक

मूलः-खामेमि सव्वे जीवा,
सव्वे जीवा खमंतु मे ।
मित्ती मे सव्वभूएसु,
वेरं मज्झं ण केणई ॥५॥

भावार्थः-हे गौतम ! उत्तम पुरुष जो होता है वह सदैव वसुधैव कुटुम्बकम् जैसी भावना रखता हुआ वाचा के द्वारा भी यों बोलेगा कि सब ही जीव क्या छोटे और बड़े उन से क्षमा याचता हूं। अतः वे मेरे अपराध को क्षमा करें। चाहे जिस जाति व कुल का हो उन सबों में मेरी मैत्री भावना है। भले ही वे मेरे अपराधी क्यों न हों, तदपि उन जीवा के साथ मेरा किसी भी प्रकार वैर विरोध नहीं है। बस. उस के लिए फिर मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है।

मूलः-अगारिसामाइअंगाइं,
सड्ढी काएण फासए ।

5-5-72

पोसहं दुहओ पक्खं,
एगराइं न हावए ॥६॥

भावार्थः-हे आर्य ! जो गृहस्थ है, और अपना गृहस्थ-धर्म पालन करता है, वह श्रद्धावान् गृहस्थ सामयिक भाव के अंगों को अर्थात् समता शान्ति आदि गुणों को मन, वचन काया के द्वारा अभ्यास के साथ अभिवृद्धि करता रहे। और कृष्ण शुक्ल दोनों पक्षों में कम से कम छः पौषध करने में तो न्यूनता एक रात्रि की भी कभी न करे।

मूलः-एवं सिक्खासमावण्णे,
गिहिवासे वि सुव्वए ।
मुच्चई छविपव्वाओ,
गच्छे जक्खसलोगयं ॥७॥

3-5-24

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार जो गृहस्थ

अपने सदाचार रूप गृहस्थ धर्म का पालन करता है, वह गृहस्थाश्रम में भी अच्छे व्रतवाला संयमी होता है। इस प्रकार गृहस्थ धर्म के पालते हुए यदि उसका अन्तिम समय भी आ जाय तो भी हड्डा, चमड़ा और मांस निर्मित इस औदारिक* शरीर को छोड़ कर यक्ष देवताओं के सदृश देवलोक को प्राप्त होता है।

मूलः-दीहाउया इड्ढिमंता,
समिद्धा कामरूविणो।
अहुणोववन्नसंकासा,
भुज्जो अच्चिमालिप्पभा॥८॥

55.27

भावार्थः-हे गौतम! जो गृहस्थ गृहस्थ-धर्म पालते हुए नीति के साथ अपना जीवन बिताते हुए स्वर्ग को प्राप्त होते हैं, वे वहाँ दीर्घायु

* External physical body having flesh, blood and bone

ऋद्धिमान्, समृद्धिशाली, इच्छानुकूल रूप बनाने की शक्तियुक्त तत्काल के जन्म हुए जैसे, और अनकों सूर्यों की प्रभा के समान देदीप्यमान् होते है।

मूलः ताणि ठाणाणि गच्छंति,
सिक्खिता संजमं तवं।
भिक्खाए वा गिहत्थे वा,
जे संतिपरिनिव्वुडा ॥६॥

5-28

भावार्थः-हे गौतम ! क्षमा के द्वारा सकल संतापों से रहित होने पर साधु हो या गृहस्थ चाहे जो हो, जाति पांति का यहां कोई गौरव नहीं है। संयमी जीवन वाला और तपस्वी हो वही दिव्य स्वर्ग में जाता है।

मूलः-बहिया उड्ढमादाय,
नाकंखे कयाइ वि।

5-6-23

पुव्वकम्मक्खयट्ठाए,
इमं देहं समुद्धरे ॥१०॥

भावार्थः-हे गौतम ! संसार से परे जो मोक्ष है, उसको लक्ष्य में रख कर के कभी भी कोई विषयादि सेवन की इच्छा न करे। और पूर्व के अनेक भवों में किये हुए कर्मों को नष्ट करने के लिए इस शरीर का, निर्दोष आहारादि से पालन पोषण करता हुआ अपने मानव जन्म को सफल बनावे।

मूलः-दुल्लहा उ मुहादाई,
मुहाजीवी वि दुल्लहा।
मुहादाई मुहाजीवी,
दो वि गच्छंति सोग्गइं ॥११॥

भावार्थः-हे गौतम ! नाना प्रकार के एहिक

सुख प्राप्त होने की स्वार्थ रहित भावना से जो दान देता है, ऐसा व्यक्ति मिलना दुर्लभ ही है। और देने वाले का किसी भी प्रकार संबंध व कार्य न करके उस से निस्वार्थ ही भोजन ग्रहण कर अपना जीवन निर्वाह करते हों, ऐसे महान् पुरुष भी कम हैं। अतएव बिना स्वार्थ से देने वाला मुहादाई[१] और निस्पृह भाव से लेने वाला मुहाजीवी[२] दोनों ही सुगति में जाते हैं।

मूलः-संति एगेहिं भिक्खूहिं,
गारत्था संजमुत्तरा।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं,
साहवो संजमुत्तरा ॥१२॥

5/10

1–Maintaining oneslf without doing any service.

2–Giving without getting any thing in return.

भावार्थः-हे आर्य ! कितनेक शिथिलाचारी साधुओं से गृहस्थ धर्म पालने वाले गृहस्थ भी अच्छे होते हैं। जो अपने नियमों को निर्दोष रूप से पालन करते रहते हैं। और निर्दोष संयम पालने वाले जो साधु है, वे देश विरतिवाले सब गृहस्थों से बढ़कर है।

मूलः--चीराजिणं नगिणिणं,
जडी संघाडि मुंडिणं।
एयाणि वि न ताइंति,
दुस्सीलं परियागयं ॥१३॥

5.8/21

भावार्थः-हे गौतम ! संयमी जीवन बिताये बिना केवल दरख्तों की छाल के वस्त्र पहनने से या किसी किसम के चर्म के वस्त्र पहनने से, अथवा जटाधारण करने से अथवा फटे टूटे कपड़ों के टुकड़ों को सीकर पहनने से, और केसों का मुण्डन व लोचन करने से कभी मुक्ति नहीं होती है। इस

प्रकार भले ही वह साधु कहलाता हो पर वह दुराचारी न तो अपना स्वतः का रक्षण कर पाता है, और न औरों ही का । अतः स्वपर कल्याण के लिए शील-सम्यक् चारित्र का पालन करना ही श्रेयस्कर है ।

मूलः--अत्थंगयंमि आइच्चे,
पुरत्था य अणुग्गए ।
आहारमाइयं सव्वं,
मणसा वि न पत्थए ॥१४॥

दश-8-28

भावार्थः–हे गौतम ! सूर्य अस्त होने के पश्चात् जब तक फिर पूर्व दिशा में सूर्य उदय न हो जावे उस के बीच के समय में गृहस्थ सब तरह के पेय अपेय पदार्थों को खाने पीने की मन से भी कभी इच्छा न करे ।

5-25(2)

मूलः--जायरूवं जहामट्ठं,

निद्धंतमलपावगं ।
रागदोसभयातीतं,
तं वयं बूम माहणं ॥१५॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार कसौटी पर कसा हुआ एवं अग्नि के ताप से दूर हो गया है मैल जिसका ऐसा सुवर्ण ही वास्तव में सुवर्ण होता है । इसी तरह निर्मोह और शान्ति रूप कसौटी पर कसा हुआ तथा ज्ञान रूप अग्नि से जिसका राग द्वेष रूप मैल दूर हो गया हो उसी को हम ब्राह्मण कहते हैं ।

मूलः-तवस्सियं किसं दंतं,
अवचियमंससोणियं ।
सुव्वयं पत्तनिव्वाणं,
तं वयं बूम माहणं ॥१६॥

5-25-12

भावार्थः-हे गौतम ! तप करने से जिसका

शरीर दुर्बल हो गया हो, इन्द्रियों का दमन करने से लोहू, माँस जिसका सूख गया हो, व्रत नियमों का सुन्दर रूप से पालन करने के कारण जिसका स्वभाव शान्त हो गया हो, उसको हम ब्राह्मण कहते हैं।

मूलः-जहा पोमं जले जायं,
नोवलिप्पइ वारिणा।
एवं अलित्तं कामेहिं,
तं वयं बूम माहणं ॥१७॥

भावार्थः-हे गौतम! जैसे कमल जल में उत्पन्न होता है, पर जल से सदा अलिप्त रहता है, इसी तरह कामभोगों से उत्पन्न होने पर भी विषय-वासना सेवन से जो सदा दूर रहता है वह किसी भी जाति व कौम का क्यों न हो, हम उसी को ब्राह्मण कहते हैं।

मूलः-न वि मुंडिएण समणो,

न ओंकारेण बंभणो।
न मुणी रएणवासेणं,
कुसचीरेण न तावसो ॥१८॥

भावार्थः-हे गौतम ! केवल सिर मुंडाने से या लोचन मात्र करने से ही कोई साधु नहीं बन जाता है। और न ओंकार शब्द मात्र के रटने से ही कोई ब्राह्मण हो सकता है। इसी तरह केवल सघन अटवी में निवास करलेने से ही कोई मुनि नहीं हो सकता है। और न केवल घास विशेष अर्थात् दर्भ का कपड़ा पहन लेने से तपस्वी बन सकता है।

मूलः-समयाए समणो होई,
बंभचेरेण बंभणो।
नाणेण य मुणी होइ,
तवेणं होइ तावसो ॥१६॥

3. 25/32

भावार्थः-हे गौतम ! सर्व प्राणी मात्र, फिर चाहे वे शत्रु जैसा वर्त्ताव करते हों या मित्र जैसा, ब्राह्मण, श्वःपाक, चाहे जो व्यक्ति हों, उन सभी को समदृष्टि से जो देखता हो, वही साधु है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला किसी भी कौम का हो, वह ब्राह्मण ही है, इसी तरह सम्यक् ज्ञान सम्पादन कर के उसके अनुसार प्रवृत्ति करने वाला ही मुनि है। ऐहिक सुखों की वाँछा रहित बिना किसी को कष्ट दिये जो तप करता है, वही तपस्वी है।

मूलः—कम्मुणा बंभणो होइ,
कम्मुणा होइ खत्तिओ।
कम्मुणा वइसो होइ,
सुद्दो हवइ कम्मुणा ॥२०॥

25-33

भावार्थः-हे गौतम ! चाहे जिस जाति व कुल का मनुष्य क्यों न हो, जो क्षमा, सत्य, शील तप आदि सदनुष्ठान रूप कर्मों का कर्त्ता होता है,

वही ब्राह्मण है। केवल छापा तिलक कर लेने से ब्राह्मण नहीं हो सकता है। और जो भय, दुःख, आदि से मनुष्यों को मुक्त करने का कर्म करता है, वही क्षत्रिय अर्थात् राजपूत्र है। अन्याय पूर्वक राज करने से तथा शिकार खेलने से कोई भी व्यक्ति आज तक क्षत्रिय नहीं बना। इसी तरह नीति पूर्वक जो व्यापार करने का कर्म करता है वही वैश्य है। नापने, तौलने, लेन, देन, आदि सभी में अनीति पूर्वक व्यवहार कर लेने मात्र से कोई वैश्य नहीं हो सकता है। और जो दूसरों को संताप पहुँचाने वाले ही कर्मों को करता रहता है वही शूद्र है।

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

* ॐ *

ब्रह्मचर्य निरूपण

(अध्याय आठवां)

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

5.16-11

मूलः-आलओ थीजणाइरणो ।
थीकहा य मणोरमा ।
संथवो चेव नारीणं,
तेसिं इंदियदरिसणं ॥१॥

12

कूइअं रुइअं गीअं,
हासभुत्तासिआणि अ ।
पणीअं भत्तपाणं च,
अइमायं पाणभोअणं ॥२॥

13

गत्तभूसणमिट्ठं च;
कामभोगा य दुज्जया ।

नरस्सत्तगवेसिस्स,
विसं तालउडं जहा ॥ ३ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! स्त्री व नपुंसक (हींजड़े) जहां रहते हों वहां ब्रह्मचारी को नहीं रहना चाहिए। स्त्रियों की कथा का कहना, स्त्रियों के आसन पर बैठना, उनके अंगोपाङ्गों को देखना, भींत बीच, टाटी के अन्तर पर स्त्री पुरुष सोते हुए हों वहां ब्रह्मचारी को नहीं सोना चाहिए। और जो पूर्व में स्त्रियों के साथ काम चेष्टा की है उसका स्मरण करना, नित्यप्रति स्निग्ध भोजन करना, परिमाण से अधिक भोजन करना, एवं शरीर की शुश्रूषा विभूषा करना ये सब ब्रह्मचारियों के लिए निषिद्ध है। क्योंकि ये दुर्जयी काम भोग ब्रह्मचारी के लिए तालपुट ज़हर के समान होते हैं।

मूलः-जहा कुक्कुडपोअस्स,
निच्चं कुललओ भयं ।

एवं खु बंभयारिस्स,
इत्थीविग्गहओ भयं ॥४॥

भावार्थः-हे गौतम ! ब्रह्मचारियों के लिए स्त्रियों की विषय जनित वार्तालाप तथा स्त्रियों का संसर्ग करना आदि जो निषेध किया है, वह इसलिए है कि जैसे मुर्गी के बच्चे को सदैव बिल्ली से प्राणवध का भय रहता है, अतः अपनी प्राण रक्षा के लिए वह उससे बचता रहता है। उसी तरह ब्रह्मचारियों को स्त्रियों के संसर्ग से अपने ब्रह्मचर्य के नष्ट होने का भय सदा रहता है। अतः उन्हें स्त्रियों से सदा सर्वदा दूर रहना चाहिए।

मूलः-जहा बिरालावसहस्स मूले,
न मूसगाणं वसही पसत्था।
एमेव इत्थीनिलयस्स मज्झे,
न बम्भयारिस्स खमो निवासो॥५॥

भावार्थः-हे आर्य ! जिस प्रकार बिलावों के निवास स्थानों के समीप चूहों का रहना बिलकुल योग्य नहीं अर्थात् खतरनाक है। इसी तरह स्त्रियों के रहने के स्थान के समीप ब्रह्मचारियों का रहना भी उनके लिए योग्य नहीं है।

मूलः-हत्थपायपडिछिन्नं,
कन्ननासविगप्पिअं।
अवि वाससयं नारिं,
बंभयारी विवज्जए॥ ६॥

भावार्थः-हे गौतम! जिसके हाथ पैर कटे हुए हों, कान नाक खराब आकार वाले हों, और अवस्था में सौ वर्ष वाली हो, तो भी ऐसी स्त्री के साथ संसर्ग परिचय करना, ब्रह्मचारियों के लिए परित्याज्य है।

मूलः-अंगपच्चंगसंठाणं,

चारुल्लविअपेहिअं ।
इत्थीणं तं न निज्झाए,
कामरागविवड्ढणं ॥७॥

दश. 8/58

भावार्थः-हे गौतम ! ब्रह्मचारियों को काम-राग बढ़ाने वाले जो स्त्रियों के हाथ पाँव, आँख, नाक, मुँह आदि के आकार प्रकार हैं उनकी ओर, एवं स्त्रियों के सुन्दर बोलने की ढब तथा उनके नयनों के तीक्ष्ण बाणों की ओर कदापि न देखना चाहिए ।

मूलः-णो रक्खसीसु गिज्झिज्जा,
गंडवच्छासुऽणेगचित्तासु ।
जाओ पुरिसं पलोभित्ता,
खेलंति जहा वा दासेहिं ॥८॥

उ. 8/18

भावार्थः-हे गौतम ! ब्रह्मचारियों को फोड़े

के समान स्तनवाली, एवं चंचल चित्तवाली, जो बातें तो किसी दूसरे से करे, और देखे दूसरे ही की ओर ऐसी अनेक चित्त वाली, राक्षसियों के समान स्त्रियों में कभी आसक्त नहीं होना चाहिए। क्योंकि वे स्त्रियाँ मनुष्यों को विषय वासना का प्रलोभन दिखा कर अपनी अनेक आज्ञाओं का पालन कराने में उन्हें दासों की भांति दत्तचित्त रखती हैं।

मूलः-भोगामिसदोसविसन्ने,
हियनिस्सेयसबुद्धिवोच्चत्थे।
बाले य मंदिए मूढे,
बज्झई मच्छिया व खेलम्मि ॥६॥

5|8|5

भावार्थः-हे गौतम ! विषय वासना रूप जो मांस है, वही आत्मा को दूषित करने वाला दोष रूप है। इस में आसक्त होने वाले, तथा हितकारी जो मोक्ष है उस के साधन की बुद्धि से विमुख, और धर्म करने में आलसी तथा मोह में

लिप्त हो जाने वाले अज्ञानी जन अपने गाढ कर्मों में जैसे मक्खी श्लेष (क़फ़) में लिपट जाती है वैसे ही फँस जाते हैं।

मूलः-सल्लं कामा विसं कामा,
कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थेमाणा,
अकामा जंति दुग्गइं ॥१०॥

भावार्थः-हे आर्य। यह काम भोग चुभने वाले तीक्ष्ण कांटे के समान है, विषय वासना का सेवन करना तो बहुत ही दूर रहा, पर उसकी इच्छा मात्र करने ही में मनुष्यों की दुर्गति होती है।

मूलः-खणमेत्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अनिगामसुक्खा।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,

खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥११॥

भावार्थः-हे गौतम ! ये काम भोग केवल सेवन करते समय ही क्षणिक सुखों के देने वाले हैं ! और भविष्य में वे बहुत अर्से तक दुखदायी होते हैं। इसलिए हे गौतम ! ये भोग अत्यन्त दुख क कारण है; सुख जो इनके द्वारा प्राप्त होता है। वह तो अत्यल्प ही होता है। फिर ये भोग संसार से मुक्त होने वाले के लिए पूरे पूरे शत्रु के समान होते हैं। और सम्पूर्ण अनर्थों को पैदा करने वाले हैं।

मूलः-जहा किंपागफलाणं,
परिणामो न सुन्दरो।
एवं भुत्ताण भोगाणं,
परिणामो न सुन्दरो ॥१२॥

5/5/18

भावार्थः-हे आर्य ! किंपाक नाम के फल खाने में स्वादिष्ट, सूंघने में सुगंधित, और आकार

प्रकार से भी मनोहर होते हैं तथापि खाने के बाद वे फल हलाहल ज़हर का काम करते हैं। इसी तरह ये भोग भी भोगते समय तो क्षणिक सुख को दे देते हैं। परन्तु उस के पश्चात् ये चौरासी की चक्करफेरी में दुखों का समुद्र रूप हो सामने आड़े आ जाते हैं। उस समय इस आत्मा को बड़ा ही पश्चात्ताप करना पड़ता है।

मूलः—दुपरिच्चया इमे कामा,
नो सुजहा अधीरपुरिसेहिं।
अह संति सुव्वया साहू,
जे तरंति अतरं वणिया वा ॥१३॥

5-816

भावार्थः-हे गौतम! इन काम भोगों को छोड़ने में जब बुद्धिमान मनुष्य भी बड़ी कठिनाइयां उठाते हैं, तब फिर कायर पुरुष तो इन्हें सुलभता से छोड़ ही कैसे सकते हैं। अतः जो शूरवीर और धीर पुरुष होते हैं, वे ही इस काम भोग रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं, उसी प्र·

कार संयम आदि व्रत नियमों की धारणा करने वाले पुरुष ही ब्रह्मचर्य रूप जहाज के द्वारा संसार रूपी समुद्र के परले पार पहुँच सकते हैं।

मूलः-उवलेवो होइ भोगेसु,
अभोगी नोवलिप्पई।
भोगी भमइ संसारे,
अभोगी विप्पमुच्चई ॥१४॥

5.25/17

भावार्थः-हे गौतम ! विषय वासना सेवन करने से आत्मा कर्मों के बंधन से बँध जाती है। और उसको त्यागने से वह अलिप्त रहती है। अतः जो काम भोगों को सेवन करते है वे संसार चक्र में गोता लगाते रहते है; और जो इन्हें त्याग देते हैं, वे कर्मों से मुक्त होकर अटल सुखों के धाम पर जा पहुँचते हैं।

मूलः-मोक्खाभिकंखिस्स वि माणवस्स,

संसारभीरुस्स ठियस्स धम्मे।
नेयारिसं दुत्तरमत्थि लोए,
जहित्थिओ बालमणोहराओ ॥१५॥

5.32.17

भावार्थः-हे गौतम! जो मोक्ष की अभिलाषा रखते हैं, और जन्म मरणों से भयभीत होते हुए धर्म में अपने आत्मा को स्थिर किये रहते हैं, ऐसे मनुष्यों को भी मूर्खों के मनरंजन करने वाली स्त्रियों के कटाक्षों को निष्फल करने के समान इस लोक में दूसरा कोई कठिन कार्य नहीं है। तात्पर्य यह है कि संयमी पुरुषों को इस विषय में सदैव जागरूक रहना चाहिए।

5.32/58

मूलः-एए य संगे समइक्कमित्ता,
सुहुत्तरा चेव भवंति सेसा।
जहा महासागरमुत्तरित्ता,
नई भवे अवि गंगासमाणा ॥१६॥

भावार्थः-हे इन्द्रभूति! जिसने स्त्री-संभोग का परित्याग कर दिया है उसको अवशेष धनादि के त्यागने में कोई भी कठिनाई नहीं होती, अर्थात् शीघ्र ही वह दूसरे प्रपंचों से भी अलग हो सकता है। जैसे कि महासागर के परले पार जाने वाले के लिए गंगा नदी को लांघना कोई कठिन कार्य नहीं होता।

मूलः- कामाणुगिद्धिप्पभवं खु दुक्खं,
सव्वस्स लोगस्स सदेवगस्स।
जं काइअं माणसिअं च किंचि,
तस्संतगं गच्छइ वीयरागो ॥१७॥

532/19

भावार्थः-हे गौतम! भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी आदि सभी तरह के देवताओं से लगाकर सम्पूर्ण लोक के छोटे से प्राणी तक का काम भोगों की अभिलाषा से उत्पन्न होने वाला दुख सताता रहता है। उस कायिक और मानसिक दुख

का अन्त करने वाला केवल वही मनुष्य है, जिसने काम भोगों से सदा के लिए अपना मुँह मोड़ लिया है।

मूलः-देवदाणवगंधव्वा,
जक्खरक्खसकिन्नरा।
बंभयारिं नमंसंति,
दुक्करं जे करंति ते ॥१८॥

5·16/16

भावार्थः-हे गौतम! इस महान् ब्रह्मचर्य व्रत का जो पालन करता है, उसको, देव दानव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर आदि सभी देव नमस्कार करते हैं। वह लोक में पूज्य हो जाता है।

॥ इति अष्टमोऽध्यायः ॥
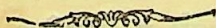
* ॐ *

साधुधर्म-निरूपण

(अध्याय नौवां)

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-सव्वे जीवा वि इच्छंति,
जीविउं न मरिज्जिउं ।
तम्हा पाणिवहं घोरं,
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥ १ ॥

दश-6(11)

भावार्थः-हे गौतम ! सब छोटे बड़े जीव जीने की इच्छा करते हैं, पर कोई मरने की इच्छा नहीं करते हैं । क्योंकि जीवित रहना सब को प्रिय है। इसलिए निर्ग्रन्थ साधु महान् दुख के हेतु प्राणी वध को आजीवन के लिए छोड़ देते हैं।

मूलः-मुसावाओ य लोगम्मि,

सव्वसाहूहि गरहिओ ।
अविस्सासो य भूयाणं,
तम्हा मोसं विवज्जए ॥२॥

दश० ६।१३

भावार्थः-हे गौतम ! इस लोक में हिंसा के सिवाय और भी जो मृषावाद (झूठ) है, वह अच्छे पुरुषों के द्वारा निन्दनीय बताया गया है। झूठ बोलने वाला अविश्वास का पात्र भी होता है। इसलिए साधु पुरुष झूठ बोलना आजीवन के लिए छोड़ देते हैं।

सूत्रः-चित्तमंतमचित्तं वा, दश० ६।१४
अप्पं वा जइ वा बहुं ।
दंतसोहणमेत्तं पि,
उग्गहंसि अजाइया ॥३॥

भावार्थः-हे गौतम ! चेतन वस्तु जैसे शिष्य,

अचेतन वस्तु वस्त्र, पात्र वग़ैरह यहां तक कि दांत कुचलने का तिनका वग़ैरह भी गृहस्थ के दिये बिना साधु कभी ग्रहण नहीं करते हैं, और अवग्रहिक पडियारी वस्तु * अर्थात् कुछ समय तक रखकर पीछी सौंपदे, उन चीज़ों को भी गृहस्थों के दिये बिना साधु कभी नहीं लेते हैं।

मूलः-मूलमेयमहम्मस्स,
महादोससमुस्सयं ।
तम्हा मेहुणसंसग्गं,
निग्गंथा वज्जयंति णं ॥४॥

भावार्थः-हे गौतम ! यह अब्रह्मचर्य अधर्म उत्पन्न कराने में परम कारण है। और हिंसा, झूठ, चोरी, कपट आदि महान् दोषों को खूब बढाने

* An article of use (for a monk) to be used for a time and then to be returned to its owner.

वाला है। इसलिए मुनिधर्म पालने वाले महापुरुष सब प्रकार से मैथुन संसर्ग का परित्याग कर देते हैं।

मूलः-लोभस्से समणुप्फासो,
मन्ने अन्नयरामवि।
जे सिया सन्निहीकामे,
गिही पव्वइए न से ॥५॥

भावार्थः-हे गौतम! लोभ, चारित्र के सम्पूर्ण गुणों को नाश करने वाला है; इसीलिए इस की इतनी महत्ता है। तीर्थंकरों ने ऐसा माना है; और कहा है, कि गुड, घी, शक्कर आदि वस्तुओं में से किसी भी वस्तु को साधु हो कर कदाचित् अपने पास रात भर रखने की इच्छा मात्र करे या औरों के पास रखवा लेवें तो वह गृहस्थ भी नहीं है। क्योंकि उसके पहनने का वेष साधु का है और वह साधु भी नहीं है क्योंकि जो साधु

होते हैं; उनके लिए उपरोक्त कोई भी चीजें रात में रखने की इच्छा मात्र भी करना मना है। अतः एव साधु को दूसरे दिन के लिए खाने तक की कोई वस्तु का भी संग्रह करके न रखना चाहिए।

मूलः-जं पि वत्थं व पायं वा,
कम्बलं पायपुंच्छणं ।
तं पि संजमलज्जट्ठा,
धारेन्ति परिहिंति य ॥६॥

२०

भावार्थः-हे गौतम ! जब यह कह दिया कि कोई भी वस्तु नहीं रखना और वस्त्र पात्र वग़ैरह, साधु रखते हैं, तो भला लोभ संबंध में इस जगह सहज ही प्रश्न उठता है। किन्तु जो संयम रखने वाला साधु है, वह केवल संयम की रक्षा के हेतु वस्त्र पात्र वग़ैरह लेता है। और पहनता है। इसलिए संयम पालने के लिए उसके साधन वस्त्र, पात्र, वग़ैरह रखने में लोभ नहीं है क्योंकि मुनियों को उनमें ममता नहीं होती।

॥ सुधर्मोवाच ॥

मूलः-न सो परिग्गहो वुत्तो,
नायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो,
इइ वुत्तं महेसिणा ॥ ७ ॥

भावार्थः-हे जम्बू ! संयम को पालने के लिए जो वस्त्र, पात्र, वगैरह रक्खे जाते हैं, उनको तीर्थंकरों ने परिग्रह * नहीं कहा है । हाँ यदि वस्त्र, पात्र आदि पर ममत्व भाव हो, या वस्त्र पात्र ही क्यों, अपने शरीर पर देखो न, इस पर भी ममत्व यदि हुआ, कि अवश्य वह परिग्रह के दोष से दूषित बन जाता है । और वह परिग्रह का दोष चारित्र के गुणों को नष्ट करने में सहायक होता है ।

मूलः-एयं च दोसं दट्ठूणं,

* Attachment to manmon; the fifth papasthanaka.

नायपुत्तेण भासियं ।
सव्वाहारं न भुंजंति,
निग्गंथा राइभोयणं ॥८॥

२१

भावार्थः-हे गौतम ! रात्रि के समय भोजन करने में कई तरह के जीव भी खाने में आ जाते हैं । अतः उन जीवों का, भोजन करने वालों से हिंसा हो जाती है । और वे फिर कई तरह के रोग भी पैदा करते हैं । अतः रात्रि-भोजन करने में ऐसा दोष देख कर वीतरागों ने उपदेश किया है, कि जो निर्ग्रन्थ * होते हैं वे सब प्रकार से खाने पीने की कोई भी वस्तु का रात्रि में सेवन नहीं करते हैं ।

मूलः-पुढविं न खणे न खणावए,
सीओदगं न पिए न पियावए ।

* Possessionless or passionless ascetic.

अगणिसत्थं जहा सुनिसियं,
तं न जले न जलावए जे स भिक्खू ॥६॥
द्श॰ १०/२

भावार्थः-हे गौतम ! सर्वथा हिंसा से जो बचना चाहता है वह न स्वयं पृथ्वी को खोदे और न औरों से खुदवावे। इसी तरह न सचित्त (जिस में जीव हो उस) जल को खुद पीवे और न औरों को पिलावे। उसी तरह न अग्नि को भी स्वयं प्रदीप्त करे और न औरों ही से प्रदीप्त करवावे बस, वही साधु है।

मूलः-अनिलेण न वीए न वीयावए,
हरियाणि न छिंदे न छिंदावए॥
बीयाणि सया विवज्जयंतो,
सच्चित्तं नाहारए जे स भिक्खू ॥१०॥

3

भावार्थः-हे गौतम ! जिसने इन्द्रिय-जन्य

सुखों की ओर से अपना मुँह मोड़ लिया है, वह कभी भी हवा के लिये पंखों का न तो स्वतः प्रयोग करता है और न औरों से उसका प्रयोग करवाता है। और पान, फल फूल आदि वनस्पतियों का भक्षण छोड़ता हुआ, सचित्त * पदार्थों का कभी आहार नहीं करता, वही साधु है। तात्पर्य यह है कि साधु किसी भी प्रकार का हिंसाजनक आरंभ नहीं करते।

मूलः—महुकारसमा बुद्धा,
जे भवंति अणिस्सिया।
नाणापिण्डरया दंता,
तेण वुच्चंति साहुणो ॥११॥

भावार्थः-हे गौतम! जिस प्रकार भ्रमर फूलों पर से थोड़ा थोड़ा रस लेकर अपना जीवन

* An animate thing; as water, flower, fruit, green etc.

बिताता है। इसी तरह जो अपनी इन्द्रियों पर वि-
जय प्राप्त करते हुए तीखे कड़ुवे, मधुर, आदि नाना
प्रकार के भोजनों में उद्वेग रहित होते हैं। तथा
जो समय पर जैसा भी निर्दोष भोजन मिला, उसी
को खाकर आनंद मय संयमी जीवन को अनेश्रित
होकर बिताते हैं, उन्हीं को हे गौतम ! साधु कहते
हैं।

मूलः-जे न वंदे न से कुप्पे,
वंदिओ न समुक्से।
एवमन्नेसमाणस्स,
सामण्णमणुचिट्ठइ ॥१२॥

5 5/5

भावार्थः-हे गौतम ! साधु को कोई वन्दना
करे या न करे तो उस गृहस्थ पर वह साधु क्रोधि-
त न हो। साधुता के गुणों पर यदि कोई राजादि
मुग्ध हो जाय, और वह बन्दनादि करे तो वह सा-
धु गर्वान्वित भी कभी न हो, बस, इस प्रकार चा-

रित्र को दूषित करने वाले दूषणों को देखता हुआ उन से बाल बाल बचता रहे उसी का चारित्र* अखण्ड रहता है।

मूलः-पण्णसमत्ते सया जए,
समताधम्ममुदाहरे मुणी।
सुहमे उ सया अलूसए,
णो कुज्झे णो माणि माहणे ॥१३॥

भावार्थः-हे गौतम ! तीक्ष्ण बुद्धि से सहित हो, प्रश्न करने पर जो शान्ति से उत्तर देनेमें समर्थ हो, समता भाव से जो धर्म कथा कहता हो च-रित्र में सूक्ष्म रीति से भी जो विराधक न हो, ता-ड़न तर्जन पर क्रोधित और सत्कार करन पर गर्वा-न्वित जो न होता हो, सचमुच में वही साधु पुरुष है।

* Right conduct; ascetic conduct inspired by the subsidence of abstructive Karma

मूलः-न तस्स जाई व कुलं व ताणं,
णएणत्थ विज्जाचरणं सुचिन्नं।
णिक्खम्मसे सेवइ णारिकम्मं,
ण से पारए होइ विमोयणाए॥१४॥

सू. 13|11

भावार्थः-हे गौतम! साधु होकर जाति और कुल का जो मद करता है, इस में उसकी साधुता नहीं है। प्रत्युत वह गर्व त्राणभूत न होकर हीन जाति और कुल में पैदा करने की सामग्री एकत्रित करता है। केवल ज्ञान एवं क्रिया के सिवाय और कुछ भी परलोक में हित कारक नहीं है। और साधु होकर गृहस्थ जैसे कार्य फिर करता है वह संसार समुद्र से परले पार होने में समर्थ नहीं है।

सू. 13|14

मूलः-एवं ण से होइ समाहिपत्ते,
जे पन्नवं भिक्खु विउक्कसेज्जा।

अहवा वि जे लाभमयावलिते,
अन्नं जणं खिंसति बालपन्ने ॥१५॥

भावार्थः-हे गौतम ! मैं जातिवान् हूँ, कुल वान हूँ। इस प्रकार का गर्व करने वाला साधु समाधि मार्ग को कभी प्राप्त नहीं होता है। जो बुद्धिमान् होकर फिर भी अपने आप ही की आत्म प्रशंसा करता है, अथवा यों कहता है, कि मैं ही साधुओं के लिये वस्त्र, पात्र आदि का प्रबंध करता हूँ। बेचारा दूसरा क्या कर सकता है ? वह तो पेट भरने तक की चिन्ता दूर नहीं कर सकता, इस तरह दूसरों की निन्दा जो करता है, वह साधु कभी नहीं है।

मूलः-न पूयणं चेव सिलोयकामी,
पियमप्पियं कस्सइ णो करेज्जा।
सव्वे अणट्ठे परिवज्जयंते,
आणाउले या अकसाइ भिक्खू ॥१६॥

सू. 13/22

भावार्थः-हे गौतम! साधु प्रवचन करते समय वस्त्रादि की प्राप्ति की एवं आत्म प्रशंसा की वांछा कभी न रक्खे। या किसी के साथ राग और द्वेष से संबंध रखने वाले कथन को भी वह न करे। इस प्रकार आत्मा कलुषित करने वाली सभी अनर्थकारी बातों को छोड़ते हुए भय एवं कषाय रहित होकर साधु को प्रवचन करना चाहिए।

मूलः-जाए सद्धाए निक्खंतो,
परियायट्ठाणमुत्तमं।
तमेव अणुपालिज्जा,
गुणे आयरियसम्मए ॥१७॥

भावार्थः-हे गौतम! जो गृहस्थ जिस श्रद्धा से प्रधान दीक्षा स्थान प्राप्त करने को मायामय काम रूप संसार से पृथक् हुआ उसी भावना से जीवन पर्यंत उसको तीर्थंकर प्ररूपित गुणों में वृद्धि करते रहना चाहिये।

॥ इति नवमोऽध्यायः ॥

* ॐ *

प्रमाद-परिहार

(अध्याय दसवाँ)

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-दुमपत्तए पंडुरए जहा,
निवडइ राइगणाण अच्चए।
एवं मणुआण जीविअं,
समयं गोयम ! मा पमायए॥१॥

5/10/1

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे समय पाकर वृक्ष के पत्ते पीले पड़ जाते हैं; फिर वे पक कर गिर जाते हैं। इसी प्रकार मनुष्यों का जीवन नाशशील है। अतः हे गौतम ! धर्म का पालन करने में एक क्षण मात्र भी व्यर्थ मत गवाँओ।

मूलः-कुसग्गे जह ओसबिंदुए,

थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुआण जीविअं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२॥

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे घास के अग्र-भाग पर तरल ओस की बूँद थोड़े ही समय तक टिक सकती है। ऐसे ही मानव शरीर धारियों का जीवन है। अतः हे गौतम ! जरा से समय के लिए भी ग़ाफ़िल मत रह।

मूलः-इइ इत्तरिअम्मि आउए,
जीविअए बहुपच्चवायए ।
विहुणाहि रयं पुरेकडं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥३॥

3

भावार्थः-हे गौतम ! जिसे शस्त्र, विष, आदि उपक्रम भी बाधा नहीं पहुँचा सकते, ऐसा

नोपक्रमी (अकाल मृत्यु से रहित) आयुष्य भी थोड़ा होता है। और शस्त्र, विष आदि से जिसे बाधा पहुँच सके ऐसा सोपक्रमी जीवन थोड़ा ही है। उस में भी ज्वर, खांसी आदि अनेक व्याधियों का विघ्न भरा पड़ा होता है। ऐसा समझ कर हे गौतम ! पूर्व के किये हुए कर्मों को दूर करने में क्षण भर प्रमाद न करो।

मूलः-दुल्लहे खलु माणुसे भवे,
चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग कम्मुणो,
५ समयं गोयम ! मा पमायए ॥४॥

भावार्थः-हे गौतम ! जीवों को एकेन्द्रिय आदि योनियों में इधर उधर जन्मते मरते हुए बहुत काल गया। परंतु दुर्लभ मनुष्य जन्म नहीं मिला। क्योंकि मनुष्य जन्म के प्राप्त होने में जो रोड़ा अटकाते हैं ऐसे कर्मों का विपाक नाश करने

में महान् कठिनाई है। अतः हे गौतम ! मानव देह पा कर पल भर भी प्रमाद मत कर।

मूलः-पुढविकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखाईयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥५॥

5

भावार्थः-हे गौतम ! यह जीव पृथ्वी काय* में जन्म-मरण को धारण करता हुआ उत्कृष्ट असंख्य काल अर्थात् असंख्य सर्पिणी उत्सर्पिणी काल तक को बिताता रहता है। अतः हे मानव-देह-धारी गौतम ! तुझे एक क्षण मात्र की भी ग़फलत करना उचित नहीं है।

मूलः-आउकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे।

* Body of the living beings of the earth

कालं संखाईयं;
6 समयं गोयम ! मा पमायए ॥६॥
तेउक्कायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखाईयं,
7 समयं गोयम ! मा पमायए ॥७॥
वाउक्कायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे
कालं संखाईयं,
8 समयं गोयम ! मा पमायए ॥८॥

भावार्थः-हे गौतम ! इसी तरह यह आत्मा जल, अग्नि तथा वायु काय में असंख्य काल तक जन्म मरण को धारण करता रहता है। इसीलिए तो कहा जाता है कि मानव जन्म मिलना महान्

कठिन है । अतएव हे गौतम ! तुझे धर्म का पालन करने में तनिक भी ग़ाफ़िल न रहना चाहिए ।

मूलः-वणस्सइकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालमणंतं दुरंतयं,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥९॥

भावार्थः-हे गौतम ! यह आत्मा वनस्पति काय में अपने कृत कर्मों द्वारा जन्म मरण करता है, सो उत्कृष्ट अनंत काल तक उसी में गोता लगाया करता है । और इसी से उस आत्मा को मानव शरीर मिलना कठिन हो जाता है । इस लिए हे गौतम ! पल भर के लिए भी प्रमाद मत कर ।

मूलः-बेइंदिअकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
कालं संखिज्जसण्णिअं,

समयं गोयम ! मा पमायए ॥१०॥

भावार्थः-हे गौतम ! जब यह आत्मा दो इंन्द्रियवाली योनियों में जाकर जन्म धारण करता है तो काल गणना की जहां तक संख्या बताई जाती है वहां तक अर्थात् संख्याता काल तक उसी योनि में जन्ममरण को धारण करता रहता है। अतः हे गौतम ! क्षण मात्र का भी प्रमाद न कर।

मूलः-तेइंदियकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसंणिअं।
समयं गोयम! मा पमायए।११।

चउरिंदियकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
कालं संखिज्जसंणिअं,

समयं गोयम ! मा पमायए १२.

भावार्थः हे गौतम ! जब यह आत्मा तीन इन्द्रिय तथा चार इन्द्रियवाली योनि में जाता है तो अधिक से अधिक संख्याता काल तक उन्हीं योनियों में जन्म मरण को धारण करता रहता है। अतः हे गौतम ! धर्म की वृद्धि करने में एक पल भर का भी कभी प्रमाद न कर।

मूलः-पंचिंदियकायमइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे ।
सत्तट्ठभवग्गहणे,
समयं गोयम ! मा पमायए॥१३॥

भावार्थः--हे गौतम ! यह आत्मा पंचेन्द्रियवाली तिर्यंच की योनियों में जब जाता है, तब यह अधिक से अधिक सात आठ भव तक उसी योनि में निवास करता है। अतः हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

मूलः-देवे नेरइए अइगओ,
उक्कोसं जीवो उ संवसे।
इक्किक्कभवग्गहणे,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१४॥

भावार्थः-हे गौतम ! जब यह आत्मा देव अथवा नारकीय भवों में जन्म लेता है तो वहां एक एक जन्म तक यह रहता है (बीच में नहीं निकल सकता) अतएव हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-एवं भवसंसारे,
संसरइ सुहासुहेहिं कम्मेहिं।
जीवो पमायबहुलो,
समयं गोयम ! मा पमायए॥१५॥

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार पृथ्वी, जल

अग्नि वायु, आदि एकेन्द्रिय द्वैन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय वाली तिर्यंच योनियों में एवं देव तथा नरक में संख्याता, असंख्याता और अनंत काल तक अपने शुभाशुभ कर्मों के कारण यह जीव भटकता फिरता है। इसी से कहा गया है कि इस आत्मा को मनुष्य भव मिलना महान् कठिन है। इसलिए मानव-देह-धारी हे गौतम! अपनी आत्मा को उत्तम अवस्था में पहुँचाने के लिए समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

मूलः--लद्धूण वि माणुसत्तणं,
आरिअत्तं पुणरवि दुल्लहं।
बहवे दसुआ मिलक्खुआ,
समयं गौयम! मा पमायए॥१८॥

भावार्थः--हे गौतम! यदि इस जीव को मनुष्य जन्म मिल भी गया तो आर्य होने का सौभाग्य प्राप्त होना महान् दुर्लभ है। क्योंकि

बहुत से नाम मात्र के मनुष्य अनार्य क्षेत्रों में रह कर चोरी वग़ैरह करके अपना जीवन बिताते हैं। ऐसे नाम मात्र के मनुष्यों की कोटि में और म्लेच्छ जाति में जहां कि घोर हिंसा के कारण जीव कभी ऊँचा नहीं उठता ऐसी जाति और देश में जीव ने मनुष्य देह पा भी ली तो किस काम की! इसलिए आर्य देश में जन्म लेने वाले और कर्मों से आर्य हे गौतम! एक पल भर का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-लद्धूणवि आरियत्तणं,
अहीणपंचिंदियया हु दुल्लहा।
विगलिंदिया हु दीसई,
समयं गोयम! मा पमायए॥१७॥

भावार्थः हे गौतम! मानव-देह आर्य देश में भी पा गया परन्तु सम्पूर्ण इन्द्रियों की शक्ति सहित मानव देह मिलना महान् कठिन है। क्योंकि बहुत से ऐसे मनुष्य देखने में आते हैं कि

जिनकी इन्द्रियां विकल हैं। जो कानों से वधिर हैं। जो आँखों से अंधे या पैरों से अपङ्ग है। इसलिए सशक्त इन्द्रियों वाले हे गौतम! चौदहवां गुणस्थान प्राप्त करने में कभी आलस्य मत कर।

मूलः—अहीणपंचिंदियत्तं पि से लहे,
उत्तमधम्मसुई हु दुल्लहा।
कुतित्थिनिसेवए जणे,
समयं गोयम! मा पमायए॥१८॥

भावार्थः—हे गौतम! पांचों इन्द्रियों की सम्पूर्णतावाले को आर्य देश में मनुष्य जन्म भी मिल गया तो अच्छे शास्त्र का श्रवण मिलना और भी कठिन है। क्योंकि बहुत से मनुष्य जो इह लौकिक सुखों को ही धर्म का रूप देने वाले हैं कुतीर्थी रूप हैं। नाम मात्र के गुरु कहलाते हैं। उन की उपासना करने वाले हैं। इसलिए उत्तम शास्त्र श्रोता हे गौतम! कर्मों का नाश करने में तनिक भी ढील मत कर।

मूलः--लद्धूणावि उत्तमं सुइं,
सद्दहणा पुणरवि दुल्लहा।
मिच्छत्तनिसेवए जणा,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥१६॥

भावार्थः-हे गौतम ! सच्छास्त्र का श्रवण भी हो जाय तो भी उस पर श्रद्धा होना महान् कठिन है। क्योंकि बहुत से ऐसे भी मनुष्य हैं जो सच्छास्त्र श्रवण करके भी मिथ्यात्व का बड़े ही जोरों के साथ सेवन करते हैं। अतः हे श्रद्धावान् गौतम ! सिद्धावस्था को प्राप्त करने में आलस्य मत कर।

मूलः-धम्मं पि हु सद्दहंतया,
दुल्लहया काएण फासया।
इह कामगुणेहि मुच्छिया,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२०॥

भावार्थः-हे गौतम ! प्रधान धर्म पर श्रद्धा होने पर भी उसके अनुसार चलना और भी कठिन है। धर्म को सत्य कहने वाले वाचाल तो बहुत लोग मिलेंगे पर उसके अनुसार अपना जीवन बिताने वाले बहुत ही थोड़े देखे जावेंगे। क्योंकि इस संसार के काम भोगों से मोहित होकर अनेकों प्राणी अपना अमूल्य समय अपने हाथों खो रहे हैं। इसलिए श्रद्धापूर्वक क्रिया करने वाले हे गौतम ! कर्मों का नाश करने में एक क्षण मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-परिजूरइ ते सरीरयं,
केसा पंडुरया हवंति ते
से सोयबले य हायई,
समयं गोयम ! मा पमायए॥२१॥

भावार्थः-हे गौतम ! आये दिन तेरी वृद्धावस्था निकट आती जा रही है। बाल सफेद होते

जा रहे हैं । और कान, नाक, आँख, जीभ, शरीर, हाथ पैर आदि की शक्ति भी पहले की अपेक्षा न्यून होती जा रही है। अतः हे गौतम ! समय को अमूल्य समझ कर धर्म का पालन करने में क्षण भर का भी प्रमाद मत कर ।

मूलः-अरई गंडं विसूइया,
आयंका विविहा फुसंति ते ।
विहडइ विद्धंसइ ते सरीरयं,
27 समयं गोयम ! मा पमायए ॥२२॥

भावार्थः-हे गौतम ! यह मानव शरीर उद्वेग, गाँठ, गूमड़ा, विरेचन और प्राण घातक रोगों का घर है और अन्त में बल हीन होकर मृत्यु को भी प्राप्त हो जाता है । अतः मानव-शरीर को ऐसे रोगों का घर समझ कर हे गौतम ! मुक्ति को पाने में विलम्ब मत कर ।

मूलः-वोच्छिद सिणेहमप्पणो,
28

कुमुयं सारइयं वा पाणियं ।
से सव्वसिणेहवज्जिए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२३॥

भावार्थः-हे गौतम ! शरद ऋतु का चन्द्र विकासी कमल जैसे पानी को अपने से पृथक् कर देता है। उसी तरह तू अपने मोह को दूर करने में समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-चिच्चाण धणं च भारियं,
पव्वइओ हि सि अणगारियं ।
मा वंतं पुणो वि आविए,
समयं गोयम ! मा पमायए ॥२४॥

27

भावार्थः-हे गौतम ! तूने धन और स्त्री को त्याग कर साधु वृत्ति को धारण करने की मन में इच्छा करली है। तो उन त्यागे हुए विषले पदार्थों

का पुनः सेवन करने की इच्छा मत कर। प्रत्युत त्याग वृत्ति को दृढ करने में एक समय मात्र का भी प्रमाद कभी मत कर।

मूलः-न हु जिणे अज्ज दीसई,
बहुमए दिस्सई मग्गदेसिए।
संपइ नेयाउए पहे,
31 समयं गोयम ! मा पमायए॥२५॥

भावार्थः-हे गौतम ! पंचम काल में लोग कहेंगे कि आज तीर्थंकर तो हैं नहीं, पर तीर्थंकर प्ररूपित मार्ग दर्शक और अनेकों के द्वारा माननीय यह मोक्षमार्ग है; ऐसा वे सम्यक् प्रकार से समझते हुए धर्म की आराधना करने में प्रमाद नहीं करेंगे। तो मेरे मौजूद रहते हुए न्याय पथ से साध्य स्थान पर पहुँचने के लिए हे गौतम ! समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-अवसोहियकंटगापहं,
32

ओइएणो सि पहं महालयं।
गच्छसि मग्गं विसोहिया,
समयं गोयम ! मा पमायए॥२६॥

भावार्थः-हे गौतम ! संकुचित अतथ्य पथ को छोड़ कर जो तू ने विशाल तथ्य मार्ग को प्राप्त कर लिया है। और उस के अनुसार तू उसी विशाल मार्ग का पथिक भी बन चुका है। अतः इसी मार्ग से अपने निजी स्थान पर पहुँचने के लिए हे गौतम ! तू एक समय मात्र का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-अबले जह भारवाहए,
मा मग्गे विसमेऽवगाहिया।
पच्छा पच्छाणुतावए,
समयं गोयम ! मा पमायए॥२७॥

भावार्थः हे गौतम ! जैसे एक दुर्बल आदमी

बोझा उठा कर विकट मार्ग में चले जाने पर महान् पश्चात्ताप करता है। ऐसे ही जो नर अल्पज्ञों के द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तों को ग्रहण कर कुपथ के पथिक होंगे, वे चौरासी की चक्र फेरी में जा पड़ेंगे। और वहाँ वे महान् कष्ट उठावेंगे। अतः पश्चात्ताप करने का मौका न आवे ऐसा कार्य करने में हे गौतम ! तू क्षण भर भी प्रमाद मत कर।

मूलः-तिण्णो हु सि अण्णवं महं,
किं पुण चिट्ठसि तीरमागओ।
अभितुर पारं गमित्तए,
समयं गोयम ! मा पमायए॥२८॥

3७

भावार्थः हे गौतम ! अपने आप को संसार रूप महान् समुद्र के पार गया हुआ समझ कर फिर उस किनारे पर ही क्यों रुक रहा है। परले पार होने के लिए अर्थात् मुक्ति में जाने के लिए शीघ्रता कर। ऐसा करने में हे गौतम ! तू क्षण भर का भी प्रमाद मत कर।

मूलः-अकलेवरसेणिमूसिया,
सिद्धिं गोयम ! लोयं गच्छसि।
खेमं च सिवं अणुत्तरं,
समयं गोयम ! मा पमायए॥२६॥

35

भावार्थः-हे गौतम ! सिद्ध पद पाने में जो शुभ अध्यवसाय रूप क्षपक श्रेणि सहायक भूत है, उसे पा कर एवं उत्तरोत्तर उसे बढ़ाकर, भय एवं उपद्रव रहित अटल सुखों का जो स्थान है, वहीं तुझे जाना है। अतः हे गौतम ! धर्म आराधना करने में पल मात्र की भी ढील मत कर।

इस प्रकार निर्ग्रन्थ की ये सम्पूर्ण शिक्षाएँ प्रत्येक मानवदेह-धारी को अपने लिए भी समझना चाहिए। और धर्म की आराधना करने में पल भर का भी प्रमाद कभी न करना चाहिए।

॥ इति दशमोऽध्यायः ॥

* ॐ *

भाषा-स्वरूप

(अध्याय ग्याहरवां)

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-जा य सच्चा अवत्तव्वा,
सच्चामोसा य जा मुसा ।
जा य बुद्धेहिऽणाइण्णा,
दश० 7/2 न तं भासिज्ज पन्नवं ॥१॥

भावार्थः-हे गौतम ! सत्य भाषा होते हुए भी यदि सावद्य है तो वह बोलने के योग्य नहीं है, और कुछ सत्य कुछ असत्य ऐसी मिश्रित भाषा तथा बिलकुल असत्य ऐसी जो भाषाएँ हैं जिनका कि तीर्थंकरों ने प्रयोग नहीं किया और बोलने के लिए निषेध किया है, ऐसी भाषा बुद्धिमान् मनुष्य को कभी नहीं बोलना चाहिये ।

3 मूलः-असच्चमोसं सच्चं च,

अणवज्जमकक्कसं ।
समुप्पेहमसंदिद्धं,
गिरं भासिज्ज पन्नवं ॥ २ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं ऐसी व्यवहारिक भाषा जैसे वह गांव आ रहा है आदि और किसी को कष्ट न पहुँचे वैसी एवं कर्ण कठोर तथा संदेह रहित ऐसी भाषा को भी बुद्धिमान् पुरुष समयानुसार विचार कर बोलते हैं ।

मूलः-तहेव फरुसा भासा,
गुरुभूओवघाइणी ।
सच्चा वि सा न वत्तव्वा,
जओ पावस्स आगमो ॥३॥

भावार्थः-हे गौतम ! जो मनुष्य कहलाते

हैं उनके लिए कठोर एवं जिस से अनेकों प्राणियों की हिंसा हो, ऐसी सत्य भाषा भी बोलने योग्य नहीं होती है। यद्यपि वह सत्य भाषा है, तदपि वह हिंसा कारी भाषा है, उसके बोलने से पाप का आगमन होता है, जिससे आत्मा भारवान् बनता है।

मूलः- तहेव काणं काणे त्ति,
पंडगं पंडगे त्ति वा।
वाहिअं वा वि रोगि त्ति,
तेणं चोरे त्ति नो वए ॥४॥

१२

भावार्थः-हे गौतम! जो मनुष्य कहलाते हैं वे काने को काना, नपुंसक को नपुंसक, व्याधि वाले को रोगी और चोर को चोर, ऐसा कभी नहीं बोलते हैं। क्योंकि वैसा बोलने में भाषा भले ही सत्य हो, पर ऐसा बोलने से उनका दिल दुखता है। इसीलिए यह असत्य भाषा है, और इसे कभी न बोलना चाहिए।

मूलः-देवाणं मणुयाणं च,
　　　　तिरियाणं च वुग्गहे ।
　　अमुगाणं जओ होउ,
　　　　मा वा होउ त्ति नो वए ॥५॥

भावार्थः-हे गौतम ! देवता मनुष्य और तिर्यंचों में जो परस्पर युद्ध हो रहा हो उस में भी अमुक की जय हो अथवा अमुक की पराजय हो, ऐसा कभी नहीं बोलना चाहिए। क्योंकि एक की जय और दूसरे की पराजय बोलने से एक प्रसन्न होता है और दूसरा नाराज़ होता है। और जो बुद्धिमान् मनुष्य, ज्ञानी जन होते हैं वे किसी को दुःखी नहीं करते हैं।

मूलः-तहेव सावज्जणुमोयणी गिरा,
　　　　ओहारिणी जा य परोवघाइणी।
　　से कोहलोहभयहास व माणवो,

न हासमाणो वि गिरं वएज्जा ॥६॥

भावार्थः-हे गौतम ! बुद्धिमान् मनुष्य वह है जो हड़ हड़ हँसता हुआ भी कभी नहीं बोलता है और इसी तरह सावद्य भाषा का अनुमोदन करके तथा निश्चयकारी और दूसरे जीवों को दुःख देने वाली भाषा कभी नहीं बोलता है।

मूलः-अपुच्छिओ न भासेज्जा,
भासमाणस्स अंतरा ।
पिट्ठिमंसं न खाएज्जा,
मायामोसं विवज्जए ॥७॥

दश ८ [४७]

भावार्थः-हे गौतम ! बुद्धिमान् वह है, जो दूसरे बोल रहे हों उनके बीच में उनके पूछे बिना न बोले और जो उन के परोक्ष में उनके अवगुणों को भी कभी न बोलता हो, तथा जिसने कपट

युक्त असत्य भाषा को भी सदा के लिए छोड़ रक्खा हो।

मूलः—सक्का सहेउं आसाइ कंटया,
अओमया उच्छहया नरेणं।
अणासए जो उ सहेज्ज कंटए,
वइमए कण्णसरे स पुज्जो ॥८॥

दश० ९।३।६

भावार्थः-हे गौतम ! उत्साह पूर्वक मनुष्य अर्थप्राप्ति की आशा से लोह खण्ड के तीर और काँटों तक की पीड़ा को खुशी खुशी सहन कर जाते हैं। परन्तु उन्हें वचन रूपी कण्टक सहन होना बड़ा ही कठिन मालूम होता है। तो फिर आशा रहित हो कर कठिन वचन सुनना तो बहुत ही दुष्कर है। परन्तु बिना किसी भी प्रकार की आशा के, कानों के छिद्रों द्वारा कण्टक के समान वचनों को सुन कर जो सह लेता है, बस, उसी को श्रेष्ठ मनुष्य समझना चाहिए।

मूलः-मुहुत्तदुक्खा उ हवंति कंटया,
अओमया ते वि तओ सुउद्धरा।
वायादुरुत्ताणि दुरुद्धराणि,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥९॥

भावार्थः-हे गौतम ! लोह निर्मित कण्टक तीर से तो कुछ समय तक ही दुःख होता है, और वह भी शरीर से अच्छी तरह निकाला जा सकता है। किन्तु कहे हुए तीक्ष्ण मार्मिक वचन वैर को बढ़ाते हुए नरकादि दुःखों को प्राप्त कराते हैं। और जीवन पर्यन्त उन कटु वचनों का हृदय से निकलना महान् कठिन है।

मूलः-अवण्णवायं च परंमुहस्स,
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं।
ओहारिणिं अप्पियकारिणिं च,
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥१०॥

भावार्थः-हे गौतम ! जो प्रत्यक्ष या परोक्ष में अवगुण वाद के वचन कभी भी नहीं बोलता हो। जैसे तू चोर है। पुरुषार्थी पुरुष को कहना कि तू नपूंसक है। ऐसी भाषा, तथा अप्रियकारी अपकारी, निश्चयकारी भाषा जो कभी नहीं बोलता हो, वह पूजनीय मानव है।

मूलः- जहा सुणी पूइकण्णी,
निक्कसिज्जइ सव्वसो ।
एवं दुस्सीलपडिणीए,
मुहरी निक्कसिज्जइ ॥११॥

उ-१/४

भावार्थः-हे गौतम। सड़े कानवाली कुतिया को सब जगह धुत्कार मिलता है और वह हर जगह से निकाली जाती है। इसी तरह दुराचारियों एवं धर्म से द्वेष करने वालों और मुँह से कटुवचन बोलने वालों को सब जगह से धुत्कारा मिलता है। और वहां से निकाल दिया जाता है।

मूलः—कणकुंडगं चइत्ताणं,
विट्ठं भुंजइ सूयरे।
एवं सीलं चइत्ताणं,
दुस्सीले रमई मिए ॥१२॥

भावार्थः—हे गौतम ! जिस प्रकार सुअर धान्य के भोजन को छोड़ कर विष्टा ही खाता है, इसी तरह मूर्ख मनुष्य सदाचार सेवन और मधुर भाषण आदि अच्छी प्रवृत्ति को छोड़ कर दुराचार सेवन करने तथा कटुभाषण करने ही में आनंद मानता रहता है, परन्तु उस मूर्ख मनुष्य को इस प्रवृत्ति से अन्त में बड़ा पश्चात्ताप करना पड़ता है।

मूलः—आहच्च चंडालियं कट्टु,
न निण्हविज्ज कयाइ वि।
कडं कडेत्ति भासेज्जा,
अकडं णो कडेत्ति य ॥१३॥

भावार्थः-हे गौतम ! कभी किसी से क्रोध के आवेश में आकर झूठ भाषण हो गया हो तो उस का प्रायश्चित करने के लिए उसे कभी भी नहीं छिपाना चाहिए। कटु भाषण किया हो तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए कि हां मुझ से हो तो गया है। और नहीं किया हो तो ऐसा कह देना चाहिए कि मैंने नहीं किया है।

मूलः-पडिणीयं च बुद्धाणं,
वाया अदुव कम्मुणा ।
आवी वा जइ वा रहस्से,
णेव कुज्जा कयाइ वि ॥ १४ ॥

17

भावार्थः-हे गौतम ! क्या तो तत्वज्ञ और क्या साधारण सभी मनुष्यों के साथ कटु वचनों से तथा शरीर द्वारा प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप में कभी भी शत्रुता करना बुद्धिमत्ता नहीं कही जा सकती।

मूलः-जणवयसम्मयठवणा,
नामे रूवे पडुच्च सच्चे य।
ववहारभावजोगे,
दसमे ओवम्म सच्चे य ॥१५॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिस देश में जो भाषा बोली जाती हो, जिस में अनेकों का एक मत हो, जैसे पंक से और भी वस्तु पैदा होती है, पर कमल ही को पंकज कहते हैं। जिसमें एकमत है। नापने के गज और तोलने के बाट वगैरह को जितना लम्बा और जितना वजन में लोगों ने मिलकर स्थापन कर रक्खा हो। गुण सहित या गुण शून्य जिसका जैसा नाम हो, वैसा उच्चारण करने में, जिसका जैसा वेष हो उसके अनुसार कहने में, और अपेक्षा से, जैसे एक की अपेक्षा से पुत्र और दूसरे की अपेक्षा से पिता उच्चारण करने में जो भाषा का प्रयोग होता है, वह सत्य भाषा है। ईंधन के जलने पर भी चूल्हा जल रहा है,

ऐसा व्यावहारिक उच्चारण एवं तोते में पाँचों वर्णों के होते हुए भी "हरा" ऐसा भाव मय बचन और अमुक सेठ क्रोड़पति है फिर भले दो चार हज़ार अधिक हो या कम हो, उसको क्रोड़पति कहने में, एवं दशवीं उपमा में जिन वाक्यों का उच्चारण होता है, वह सत्य भाषा है। यों दस प्रकार की भाषाओं को ज्ञानी जनों ने सत्य भाषा कही है।

मूलः- कोहे माणे माया,
लोभे पेज्ज तहेव दोसे य।
हासे भए अक्खाइय,
उवघाए निस्सिया दसमा।१६।

भावार्थः-हे गौतम! क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, हास्य और भय से बोली भाषा तथा काल्पनिक व्याख्या और दशवीं उपघात (हिंसा) के आश्रित जिस भाषा का प्रयोग किया गया हो, वह असत्य भाषा है। इस प्रकार की

भाषा बोलने से आत्मा की अधोगति होती है ॥

मूलः-इणमन्नं तु अन्नाणं,
　　　इहमेगेसिमाहियं ।
　देवउत्ते अयं लोए,
　　　बंभउत्ते त्ति आवरे ॥१७॥

　इसरेण कडे लोए,
　　　पहाणाइ तहावरे
　जीवाजीवसमाउत्ते,
　　　सुहदुक्खसमन्निए ॥ १८॥
　सयंभुणा कडे लोए,
　　　इति वुत्तं महेसिणा ।
　मारेण संथुया माया,
　　　तेण लोए असासए ॥१९॥

माहणा समणा एगे,
आह अंडकडे जगे ।
असो तत्तमकासी य,
अयाणंता मुसं वदे ॥२०॥

भावार्थः हे गौतम ! इस संसार में ऐसे भी लोग हैं, जो कहते हैं, कि जड़ और चेतन स्वरूप एवं सुख दुख युक्त जो यह लोक है. इस की इस प्रकार की रचना देवताओं ने की है। कोई कहते हैं कि ब्रह्मा ने सृष्टि बनायी है। कोई ऐसा भी कहते हैं, कि ईश्वर ने जगत् की रचना की है । कोई यों बोलते हैं, कि सत्व, रज, तम, गुण की सम अवस्था को प्रकृति कहते हैं। उस प्रकृति ने इस संसार की रचना की है। कोई यों भी मानते हैं कि जिस प्रकार काँटे तीक्ष्ण, मयूर के पंख विचित्र रंगवाले, गन्ने में मिठास, लहसुन में दुर्गंध, कमल सुगंधमय स्वभाव से ही होते हैं; ऐसे ही सृष्टि की रचना भी स्वभाव से ही होती है। कोई इस प्रकार

क : ते हैं, कि इस लोक की रचना में स्वयंभू विष्णु अकेले थे। फिर सृष्टि रचने की चिन्ता हुई जिस से शक्ति पैदा हुई। तदनंतर सारा ब्रह्माण्ड रचा और इतनी विस्तार वाली सृष्टि की रचना होने पर यह विचार हुआ कि इस का समावेश कहां होगा ? इस लिए जन्मे हुओं को मारने के लिए यम बनाया। उस ने फिर माया को जन्म दिया। कोई यों कहते हैं, कि पहले ब्रह्मा ने अण्डा बनाया। फिर वह फूट गया। जिस के आधे का उर्ध्व लोक और आधे का अधोलोक बन गया और उस में उसी समय समुद्र, नदी, पहाड़, गांव आदि सभी की रचना हो गयी। इस तरह सृष्टि को बनायी। ऐसा उनका कहना, हे गौतम ! सत्य से पृथक् है।

मूलः-सएहिं परियाएहिं,
लोयं बूया कडे त्ति य।
तत्तं ते ण विजाणंति,
ण विणासी कयाइ वि॥२१॥

९

भावार्थः-हे गौतम ! जो लोग यह कहते हैं, कि इस सृष्टि को ईश्वर ने देवताओं ने, ब्रह्मा ने तथा स्वयंभू ने बनाया है, उनका यह कहना अपनी अपनी कल्पना मात्र है वास्तव में यथा तथ्य बात को वे जानते ही नहीं हैं। क्योंकि यह लोक सदा अविनाशी है। न तो इस सृष्टि के बनने की आदि ही है और न अन्त ही है। हां, कालानुसार इसमें परिवर्तन होता रहता है परन्तु सम्पूर्ण रूप से सृष्टि का नाश कभी नहीं होता है।

॥ इति एकादशोऽध्यायः ॥

* ॐ *

लेश्या-स्वरूप

(अध्याय बारहवां)

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-किण्हा नीला य काऊ य,
तेऊ पम्हा तहेव य ।
सुक्कलेसा य छट्ठा य,
नामाइं तु जहक्कमं ॥ १ ॥

5:35:3

भावार्थः-हे आर्य ! पुण्य पाप करते समय आत्मा के जैसे परिणाम होते हैं उसे यहां लेश्या के नाम से पुकारेंगे । वह लेश्या छः भागों में विभक्त है उनके यथा क्रम से नाम यों हैं । (१) कृष्ण (२) नील (३) कापोत (४) तेजु (५)

---

(१) कृष्ण लेश्या वाले की भवना यों होती है कि अमुक को मार डालो, काट डालो, सत्या-

पद्म और (६) शुक्ल लेश्या। हे गौतम ! कृष्ण लेश्या का स्वरूप यों है:—

मूल:-पंचासवप्पवत्तो,

२। तीहिं अगुत्तो छसुं अविरओ य।

नाश करदो आदि आदि। (२) नील लेश्या के परिणाम वे हैं जो कि दूसरे के प्रति हाथ, पैर तोड़ डालने के हों (३) कापोत लेश्या भावना उन मनुष्यों के है जो कि नाक, कान, अङ्गुलिएं आदि को कष्ट पहुँचाने में तत्पर हो। (४) तेजो लेश्या के भाव वह है जो दूसरे को लात, घूँसा, मुक्की आदि से कष्ट पहुँचाने में अपनी बुद्धिमत्ता समझता हो (५) पद्मलेश्या वाले की भावना इस प्रकार होती है कि कठोर शब्दों की बौछार करने में अनन्द मानता हो। (६) शुक्ल-लेश्या के परिणाम वाला अपराध करने वाले के प्रति भी मधुर शब्दों का प्रयोग करता है।

तिव्वारंभपरिणओ,
　　खुद्दो साहस्सिओ नरो ॥ २ ॥
निद्धंधसपरिणामो,
　　　निस्संसो अजिइंदिओ ।
एअजोगसमाउत्तो,
　　　किण्हलेसं तु परिणमे ॥३॥

22

भावार्थः-हे गौतम ! जिसकी प्रवृत्ति हिंसा झूठ, चोरी व्यभिचार और ममता में अधिकतर फँसी हुई हो, एवं मन द्वारा जो हर एक का बुरा चिंतवन करता हो, जो कटु और मर्म भेदी बोलता हो, जो प्रत्येक के साथ कपट का व्यवहार करने वाला हो, जो बिना प्रयोजन के भी पृथ्वी, जल तेज, वायु, वनस्पति और त्रस काय के जीवों की हिंसा से निवृत्त न हुआ हो, बहुत जीवों की हिंसा हो ऐसे महारंभ के कार्य करने में तीव्र भावना रखता हो, हमेशा जिसकी बुद्धि तुच्छ रहती हो

अकार्य करने में बिना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के जो प्रवृत्त हो, निसंकोच भावों से पापाचरण करने में जो रत हो, इन्द्रियों को प्रसन्न रखने में अनेक दुष्कार्य जो करता हो, ऐसे मार्गों में जिस किसी भी आत्मा की प्रवृत्ति हो वह आत्मा कृष्ण लेश्यावाला है। ऐसी लेश्या वाला फिर चाहे वह पुरुष हो या स्त्री, मर कर नीची गति में जावेगा। हे गौतम! नील लेश्या का वर्णन यों है।

मूलः-इस्सा अमरिस अतवो,
अविज्ज माया अहीरिया।
गेही पओसे य सढे,
पमत्ते रसलोलुए ॥ ४ ॥
सायगवेसए य आरंभा अविरओ,
खुद्दो साहस्सिओ नरो।
एअजोगसमाउत्तो,

नीललेसं तु परिणमे ॥ ५ ॥

भावार्थः-हे गौतम! जो दूसरों के गुणों को सहन न करते रात दिन उनसे ईर्ष्या करने वाला हो, बात बात में जो क्रोध करता हो। खा पी कर जो सण्ड मुसण्ड बना रहता हो, पर कभी भी तपस्या न करता हो, जिनसे अपने जन्म मरण की वृद्धि हो ऐसे कुशास्त्रों का पठन पाठन करने वाला हो, कपट करने में किसी भी प्रकार की कोर कसर न रखता हो, जो भली बात कहने वाले के साथ द्वेष भाव रखता हो, धर्म कार्य में शिथिलता दिखाता हो, हिंसादि महारंभ से तनिक भी अपने मन को न खींचता हो, दूसरों के अनेकों गुणों की तरफ दृष्टिपात तक न करते हुए उस में जो एक आध अवगुण हो उसी की ओर निहारने वाला हो, और अकार्य करने में बहादुरी दिखाने वाला हो, जिस आत्मा का ऐसा व्यवहार हो, उसे नीललेशी कहते हैं। इस तरह की भावना रखने वाला व उस में प्रवृत्ति करने वाला चाहे कोई पुरुष हो या स्त्री वह अधोगति ही में जायगा।

मूलः-वंके वंकसमायरे,
नियडिल्ले अणुज्जुए।
पलिउंचगओवहिए,
25 मिच्छदिट्ठी अणारिए ॥६॥
उप्फालगा दुट्ठवाई य,
तेणे आवि य मच्छरी।
एअजोगसमाउत्तो,
काऊलेसं तु परिणमे ॥७॥
26

भावार्थः-हे गौतम! जो बोलने में सीधा न बोलता हो, व्यापार भी जिसका टेढ़ा हो दूसरे को न जान पड़े ऐसे मानसिक कपट से व्यवहार करता हो, सरलता जिसके दिल को छूकर भी न निकली हो, अपने दोषों को ढँकने की भरपूर चेष्टा जो करता हो; जिस के दिन भर के सारे कार्य छल कपट से भरे पड़े हों, जिसके मन में मिथ्यात्व की

अभिरुचि बनी रहती हो जो अमानुषिक कामों को भी कर बैठता हो, जो वचन ऐसे बोलता हो, कि जिस से प्राणि मात्र को त्रास होता हो, दूसरों की वस्तु को चुराने में ही अपने मानव जन्म की सफलता समझता हो, मात्सर्य से युक्त हो, इस प्रकार के व्यवहारों में जिस आत्मा की प्रवृत्ति हो, वह कापोत लेश्या कहलाता है। ऐसी भावना रखने वाला चाहे पुरुष हो या स्त्री, वह मर कर अधोगति में जावेगा। हे गौतम ! तेजो लेश्या के सम्बन्ध में यों हैं।

मूलः- नीयावित्ती अचवले,
अमाई अकाऊहले।
विणीयविणए दंते,
जोगवं उवहाणवं ॥ ८ ॥
पियधम्मे दढधम्मे,
वज्जभीरू हिएसए।

एयजोगसमाउत्तो,
तेऊलेसं तु परिणमे ॥६॥

२४

भावार्थः-हे आर्य ! जिसकी प्रकृति नम्र है, जो स्थिर बुद्धिवाला है, जो निष्कपट है, हंसी मज़ाक करने का जिसका स्वभाव नहीं है, बड़ों का विनय कर जिसने विनीत की उपाधि प्राप्त करली है, जो जितेन्द्रिय है, मानसिक, वाचिका और कायिक इन तीनों योगों के द्वारा जो कभी किसी का अहित न चाहता हो, शास्त्रीय विधि विधान युत् तपस्या करने में दत्त चित्त रहता हो, धर्म में सदैव प्रेम भाव रखता हो, चाहे उस पर प्राणान्त कष्ट ही क्यों न आजावे, पर धर्म में जो दृढ़ रहता है, किसी जीव को कष्ट न पहुँचे ऐसी भाषा जो बोलता हो, और हितकारी मोक्ष धाम को जाने के लिए शुद्ध क्रिया करने की गवेषणा जो करता रहता हो, वह तेजो लेशी कहलाता है। जो जीव इस प्रकार की भावना रखता हो वह मर कर ऊर्ध्वगति अर्थात् परलोक में उत्तम स्थान

को प्राप्त होता है। हे गौतम! पद्मलेश्या का वर्णन यों है:—

मूलः—पयणुकोहमाणे य,
मायालोभे य पयणुए।
पसंताचित्ते दंतप्पा,
जोगवं उवहाणवं ॥ १० ॥
तहा पयणुवाई य,
उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो,
पम्हलेसं तु परिणमे ॥११॥

भावार्थः-हे गौतम! जिसको क्रोध, मान, माया, लोभ कम हैं, जो सदैव शान्त चित्त से रहता हैं, आत्मा का जो दमन करता है, मन वचन काया के शुभ योगों में जो अपनी प्रवृत्ति करता हैं, शास्त्रीय विधि से तप करता है, सोच विचार

कर जो मधुर भाषण करता है, जो शरीर के अङ्गों-
पाङ्गों को शांत रखता है। इन्द्रियों को हर समय
जो काबू में रखता है, वह पद्मलेशी कहलाता है।
इस प्रकार की भावना का एवं प्रवृत्ति का जो
मनुष्य अनुशीलन करता है, वह मनुष्य मर कर
ऊर्ध्वगति में जाता है। हे गौतम! शुक्ल लेश्या
का कथन यों है।

मूलः—अट्टरुद्दाणि वज्जित्ता,
धम्मसुक्काणि झायए।
पसंतचित्ते दंतप्पा,
समिए गुत्ते य गुत्तिसु ॥१२॥

सरागो वीयरागो वा,
उवसंते जिइंदिए।
एयजोगसमाउत्तो,
सुक्कलेसं तु परिणमे॥ १३॥

भावार्थः-हे आर्य ! जो आर्त और रौद्र ध्यानों को परित्याग करके सदैव धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान का चिन्तवन करता है, क्रोध, मान, माया, और लोभ आदि के शान्त होने से प्रशान्त हो रहा है चित्त जिसका, सम्यक् ज्ञान दर्शन एवं चारित्र से जिसने अपनी आत्मा को दमन कर रक्खा है, चलने, बैठने, खाने, पीने, आदि सभी व्यवहारों में संयम रखता है, मन, वचन, काया की अशुभ प्रवृति से जिसने अपनी आत्मा को गोपी है, सराग यद्वा वीतराग संयम जो रखता है, जिसका चहरा शान्त है, इन्द्रिय जन्य विषयों को विष समझकर उन्हें जिसने छोड़ रक्खे हैं, वही आत्मा शुक्ल लेशी है। यदि इस अवस्था में मनुष्य मरता है तो वह ऊर्ध्वगति को प्राप्त करता है।

मूलः--किरहा नीला काऊ,
तिरिण वि एयाओ अहमलेसाओ।
एयाहिं तिहिं वि जीवो,

दुग्गइं उववज्जइ ॥ १४ ॥

56

भावार्थः-हे गौतम ! कृष्ण, नील, और कापोत, इन तीनों को ज्ञानी जनों ने अधर्म लेश्याएँ (अधर्मभावनाएँ) कही हैं। इस प्रकार की अधर्म भावनाओं से जीव दुर्गति में जाकर महान् कष्टों को भोगता है। अतः ऐसी बुरी भावनाओं को कभी भी हृदयंगम न होने देना, यही श्रेष्ठ मार्ग है।

मूलः-तेउ पम्हा सुक्का,
तिरिण वि एयाओ धम्मलेसाओ ।
एयाहिं तिहिं वि जीवो,
सुग्गइं उववज्जइ ॥ १५ ॥

57

भावार्थः-हे आर्य ! तेजो, पद्म, और शुक्ल ये तीनों, ज्ञानी जन द्वारा धर्म लेशाँए (धर्म भावनाएँ) कही गयी हैं। इस प्रकार धर्म भावना

रखने से वह जीव यहाँ भी प्रशंसा का पात्र होता है, और मरने के पश्चात् भी वह सुगति ही में जाता है। अतएव मनुष्य को चाहिए, कि वे अपनी भावनाओं को सदा शुभ या शुद्ध रक्खें। जिससे उस आत्माको मोक्ष धाम मिलनेमें विलम्ब न हो।

मूलः-अन्तोमुहुत्तम्मि गए,
　　　　अंतमुहूत्तम्मि सेसए चेव ।
लेसाहिं परिणयाहिं,
　　　　जीवा गच्छंति परलोयं ॥१६॥

भावार्थः-हे आर्य ! मनुष्य और तिर्यञ्चों के अन्तिम समय में, योग्य वा अयोग्य, जिस किसी भी स्थान पर उन्हें जाना होता है उसी स्थान के अनुसार उसकी भावना मरने के अन्तर्मुहूर्त्त पहले आती है। और वह भावना उसने अपने जीवन में भले और बुरे कार्य किये होंगे उसी के अनुसार अन्तिम समय में वैसी ही लेश्या

(भावना) उसकी होगी और देवलोक तथा नरक में रहे हुए देव और नेरिया मरने के अन्तमुहूर्त्त पहले अपने स्थानानुसार लेश्या (भावना) ही में मरेंगे ।

मूलः-तम्हा एयासि लेसाणं,
अणुभावं वियाणिया ।
अप्पसत्थाओ वज्जित्ता,
पसत्थाओऽहिट्ठिए मुणी ॥१७॥

६)

भावार्थः-हे भले बुरे के फल जानने वाले ज्ञानी साधु जनों ! इस प्रकार छओं लेश्याओं का स्वरूप समझ कर इन में से बुरी लेश्याओं (भावनाओं) को तो कभी भी अपने हृदय तक में फटकने मत दो और अच्छी भावनाओं को सदैव हृदयंगम करके रक्खो इसी में मानव जीवन की सफलता है ।

॥ इति द्वादशोऽध्यायः ॥

* ॐ *

कषाय-स्वरूप

(अध्याय तेहरवां)

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-कोहो अ माणो अ अणिग्गहीआ,
माया अ लोभो अ पवड्ढमाणा।
चत्तारि एए कसिणा कसाया,
सिंचंति मूलाइं पुणब्भवस्स ॥१॥

दश 8/40

भावार्थः-हे आर्य! जिसका निग्रह नहीं किया है ऐसा क्रोध और मान तथा बढ़ता हुआ कपट और लोभ ये चारों ही सम्पूर्ण कषाय पुनः पुनः जन्म मरण रूप वृक्ष के मूलों को हरा भरा रखते हैं। अर्थात् क्रोध, मान, माया और लोभ ये चारों ही कषाय दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण कराने वाले हैं।

मूलः-जे कोहणे होइ जगय भासी,

विश्रोसियं जे उ उदीरएज्जा ।
अंधे व से दंडपहं गहाय,
अविश्रोसिए धासति पावकम्मी ॥२॥
सू. 13/1/5

भावार्थः-हे गौतम ! जिसने बात बात में क्रोध करने का स्वभाव कर रक्खा है, वह जगत् के जीवों में अपने कर्मों से लूलापन, अंधापन, बधिरता, आदि न्यूनताओं को अपनी जिह्वा के द्वारा सामने रख देता है। और जो कलह उपशान्त हो रहा है, उस को पुनः चेतन कर देता है। जैसे अन्धा मनुष्य लकड़ी को लेकर चलते समय मार्ग में पशुओं आदि से कष्ट पाता है, ऐसे ही वह महा क्रोधी चतुर्गति रूप मार्ग में अनेक प्रकार के जन्म मरणों का दुख उठाता रहता है।

मूलः-जे आवि अप्पं वसुमंति मत्ता,
संखाय वायं अपरिक्ख कुज्जा ।
तवेण वाहं सहिउ त्ति मत्ता,

13/1/8

अएणं जणं पस्सति बिंबभूयं ॥३॥

भावार्थः-हे आर्य! जो अल्प मतिवाला मनुष्य है, वह अपने ही को संयमवान् समझता है, और कहता है, कि मेरे समान संयम रखने वाला कोई दूसरा है ही नहीं। जिस प्रकार मैं ज्ञानवाला हूँ, वैसा दूसरा कोई है ही नहीं, इस प्रकार अपनी श्रेष्ठता का ढिंढोरा पीटता फिरता है। तथा तपवान् भी मैं ही हूँ, ऐसा मान कर वह दूसरे मनुष्य को गुणशून्य और केवल मनुष्याकार मात्र ही देखता है। इस प्रकार मान करने से वह मानी, पायी हुई वस्तु से हीनावस्था में जा गिरता है।

मूलः-पूयणट्ठा जसोकामी,
माणसम्माणकामए ।
बहुं पसवइ पावं,
मायासल्लं च कुव्वइ ॥४॥

दृ 5/2/35

भावार्थः-हे गौतम ! जो मनुष्य पूजा, यश, मान और सम्मान का भूखा है, वह इन की प्राप्ति के लिए अनेक तरह के प्रपंच करके अपने लिए पाप पैदा करता है और साथ ही कपट करने में भी वह कुछ कम नहीं उतरता है।

मूलः-कसिणं पि जो इमं लोगं,
पडिपुण्णं दलेज्ज इक्कस्स ।
तेणावि से न संतुस्से,
इइ दुप्पूरए इमे आया ॥५॥

5-8/16

भावार्थः-हे गौतम ! वैश्रमण देव किसी मनुष्य को हीरे, पन्ने, माणिक, मोती तथा धन धान से भरी हुई सारी पृथ्वी दे देवे तो भी उससे उसको संतोष नहीं हो सकता है। अतः इस आत्मा की इच्छा को पूर्ण करना महान् कठिन है।

मूलः-सुवण्णरुप्पस्स उ पव्वया भवे,

सिया हु केलाससमा असंखया।
नरस्स लुद्धस्स न तेहि किंचि,
इच्छा हु आगाससमा अणंतिआ ॥६॥
5. 9/48

भावार्थः-हे गौतम ! कैलाश पर्वत के समान लम्बे चौड़े असंख्य पर्वतों के जितने सोने चांदी के ढेर किसी लोभी मनुष्य को मिल जाय तो भी उसकी तृष्णा पूर्ण नहीं होती है। क्योंकि जिस प्रकार आकाश का अन्त नहीं है, उसी प्रकार इस तृष्णा का कभी अन्त नहीं आता है।

मूलः-पुढवी साली जवा चेव,
हिरण्णं पसुभिस्सह।
पडिपुण्णं नालमेगस्स,
इइ विज्जा तवं चरे ॥ ७ ॥
५.१

भावार्थः-हे गौतम ! शालि, जब सोना,

चांदी और पशुओं से परिपूर्ण पृथ्वी भी किसी एक मनुष्य की इच्छा को तृप्त करने में समर्थ नहीं है। ऐसा जान कर तप रूप मार्ग में घूमते हुए लोभदशा पर विजय प्राप्त करना चाहिए। इसी से आत्मा की तृप्ति होती है।

मूलः—अहे वयइ कोहेणं,
माणेणं अहमा गई।
माया गइपडिग्घाओ,
लोहाओ दुहओ भयं ॥८॥

54

भावार्थः—हे आर्य! जब आत्मा क्रोध करता है, तो उस क्रोध से उसे नरक आदि स्थानों की प्राप्ति होती है। मान करने से वह अधम गति को प्राप्त करता है। माया करने से पुरुषत्व या देव-गति आदि अच्छी गति मिलने में रुकावट होती है और लोभ से जीव इस भव एवं परभव संबंधी भय को प्राप्त होता है।

मूलः-कोहो पीइं पणासेइ,
माणो विणयनासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ,
लोभो सव्वविणासणो ॥६॥

दश. 8/38

भावार्थः-हे गौतम ! क्रोध ऐसा बुरा है, कि वह परस्पर की प्रीति को क्षण भर में नष्ट कर देता है। मान विनम्र भाव को कभी अपनी ओर झाँकने तक भी नहीं देता। कपट से मित्रता का भंग हो जाता है, और लोभ सभी गुणों का नाश कर देता है। अतः क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों ही दुर्गुणों से अपनी आत्मा को सदा सर्वदा बचाते रहना चाहिए।

मूलः-उवसमेण हणे कोहं,
माणं मद्दवया जिणे ।
मायं मज्जवभावेण,

लोभं संतोसओ जिणे ॥१०॥

भावार्थः-हे आर्य ! इस क्रोध रूप चाण्डाल को क्षमा से दूर भगाओ और विनम्र भावों से इस मान का मद नाश करो। इसी प्रकार सरलता से कपट को और संतोष से लोभ को पराजित करो। तभी वह मोक्ष प्राप्त होगा जहाँ पर कि गये बाद वापिस दुखों में आने का काम नहीं।

मूलः-असंक्खयं जीविय मा पमायए,
जरोवणीयस्स हु नत्थि ताणं।
एअं वियाणाहि जणे पमत्ते,
कं नु विहिंसा अजया गहिंति ११

J. 411

भावार्थः-हे गौतम ! इस मानव जीवन के टूट जाने पर न तो पुनः इसकी संधि हो सकती है, और न यह बढ़ ही सकता है। अतः धर्माचरण करने में प्रमाद मत करो। यदि कोई वृद्धावस्था

में किसी की शरण प्राप्त करना चाहे तो इस में भी वह असफल होता है। भला फिर जो प्रमादी और हिंसा करने वाले अजितेन्द्रिय मनुष्य हैं, वे परलोक में किस की शरण ग्रहण करेंगे ? अर्थात् वहाँ के होने वाले दुखों से उन्हें कौन छुड़ा सकेगा? कोई भी बचाने वाला नहीं है।

मूलः-वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते,
इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्टेव अणंतमोहे,
नेयाउअं दट्टुमदट्टुमेव ॥ १२ ॥

5

भावार्थः-हे गौतम ! धर्म-साधन करने में आलस्य करने वाले प्रमादी मनुष्यों की इस लोक

(१) जैसे धातु ढूंढने वाले मनुष्य दीपक को लेकर पर्वत की गुफ़ा की ओर गये, और उस दीपक से गुफा देख भी ली, परन्तु उस में प्रवेश होने पर उस दीपक की उन्होंने कोई पर्वाह न की।

और परलोक में द्रव्य के द्वारा रक्षा नहीं हो सकती है। प्रत्युत वे अनंत मोही पुरुष, दीपक के नाश हो जाने पर न्यायकारी मार्ग को देखते हुए भी नहीं देखने वाले के समान हैं।

मूलः-सुत्तेसु यावी पडिबुद्धजीवी,
न वीससे पंडिए आसुपण्णे।
घोरा मुहुत्ता अबलं सरीरं,
भारंडपक्खी व चरऽप्पमत्तो ॥१३॥

भावार्थः-हे गौतम! द्रव्य निद्रा से जागृत

उनके आलस्य से दीपक बुझ गया, तब तो उन्हों ने अँधेरे में इधर उधर भटकते हुए प्राणान्त कष्ट पाया। इसी तरह प्रमादी जीव धर्म के द्वारा मुक्ति पथ को देख लेने पर भी उस धर्म की द्रव्य के लोभ वश फिर उपेक्षा कर बैठते हैं। वहां वे जन्मजन्मान्तरों में प्राणान्त जैसे कष्टों को अनेकों बार उठाते रहेगें।

तीक्ष्ण बुद्धिवाले पण्डित पुरुष जो होते हैं, वे द्रव्य और भाव से नींद लेनेवाले प्रमादी पुरुषों के आचरणों का अनुकरण नहीं करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं, कि समय जो है वह मनुष्य का आयु कम करने में भयङ्कर है। और यह भी नहीं है, कि यह शरीर मृत्यु का सामना कर सके। अतएव जिस प्रकार भारंड पक्षी अपना चुगा चुगने में प्रायः प्रमाद नहीं करता है उसी तरह तुम भी प्रमाद रहित होकर संयमी जीवन बिताने में सफलता प्राप्त करो।

मूलः-जे गिद्धे कामभोएसु,
एगे कूडाय गच्छइ।
न मे दिट्ठे परे लोए,
चक्खुदिट्ठा इमा रई ॥१४॥

भावार्थः-हे आर्य! जो काम भोग में सदैव लीन रहता है वह हिंसा झूँठ आदि से बचा हुआ

नहीं रहता है। यदि उनसे कहा जाय कि हिंसादि कर्म करोगे तो नरक में दुख उठाओगे और सत्कर्म करोगे तो स्वर्ग में दिव्य सुख भोगोगे। ऐसा कहने पर वह प्रमादी बोल उठता है कि मैंने कोई भी स्वर्ग नरक नहीं देखे हैं, कि जिनके लिए इन प्रत्यक्ष काम भोगों का आनंद छोड़ बैठूँ।

मूलः—हत्थागया इमे कामा,
कालिआ जे अणागया।
को जाणइ परे लोए,
अत्थि वा नत्थि वा पुणो ॥१५॥

6

भावार्थः-अज्ञानी नास्तिक इस प्रकार कहते हैं कि हे धर्म के तत्व को जानने वालों! ये काम भोग जो प्रत्यक्ष रूप में मुझे मिल रहे हैं। और जिन्हें त्याग देने पर आगामी भव में इस से भी बढ़ कर तथा आत्मिक सुख प्राप्त होगा, ऐसा तुम कहते हो; परन्तु यह तो भविष्यत् की बात

है। और फिर कौन जानता है, कि नरक स्वर्ग और मोक्ष है या नहीं?

मूलः-जणेण सद्धिं होक्खामि,
इइ बाले पगब्भइ।
कामभोगाणुराएणं,
केसं संपडिवज्जइ॥ १६॥

7

भावार्थः-हे गौतम! वे अज्ञानी जन इस प्रकार फिर बोलते हैं, कि इतने दुष्कर्मी लोगों का परलोक में जो होगा, वह मेरा भी हो जायगा। इतने सब के सब लोग क्या मूर्ख हैं? पर हे गौतम! आखिर में वे काम भोगों के अनुरागी लोग इस लोक और परलोक में महान् दुखों को भोगते हैं।

मूलः-तओ से दंडं समारभइ,
तसेसु थावरेसु य।

14

अट्टाए व अणट्टाए,
भूयग्गामं विहिंसइ ॥१७॥

भावार्थः- हे आर्य ! नास्तिक लोग प्रत्यक्ष भोगों को छोड़ कर भविष्यत् की कौन आशा करे, इस प्रकार कह कर, अपने दिल को कठोर बना लेते हैं। फिर वे, हलते चलते त्रस जीवों और स्थावर जीवों की प्रयोजन से अथवा बिना प्रयोजन से, हिंसा करने के लिए, मन वचन, काया के योगों को प्रारम्भ कर असंख्य जीवों की हिंसा करते हैं।

मूलः-हिंसे बाले मुसावाई,
माइल्ले पिसुणे सढे ।
भुंजमाणे सुरं मंसं,
सेयमेअं ति मन्नई ॥ १८ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! स्वर्ग नरक आदि की असम्भावना करके वह अज्ञानी जीव हिंसा करते

के साथ ही साथ झूँठ बोलता है, प्रत्येक बात में कपट करता है। दूसरों की निंदा करने में अपना जीवन अर्पण कर बैठता है। दूसरों को ठगने में अपनी सारी बुद्धि खर्च कर देता है। और मदिरा एवं मांस खाता हुआ भी अपना जीवन श्रेष्ठ मानता है।

मूलः-कायसा वयसा मत्ते,
वित्ते गिद्धे य इत्थिसु।
दुहओ मलं संचिणइ,
सिसुणागु व्व मट्टियं ॥१६॥

(८

भावार्थः-हे आर्य! मन वचन और काया से गर्व करने वाले वे नास्तिक लोग धन और स्त्रियों में आसक्त हो कर रागद्वेष से गाढ कर्मों का अपनी आत्मा पर लेप कर रहे हैं। पर उन कर्मों के उदय काल में जैसे अलसिया मिट्टी से उत्पन्न होकर, फिर मिट्टी ही से लिपटाता है, किन्तु सूर्य

की आतापना से मिट्टी के सूखने पर वह अल-सिया महान् कष्ट उठाता है, उसी तरह वे नास्तिक लोग भी जन्म जन्मान्तरों में महान् कष्टों को उठावेंगे।

मूलः-तओ पुट्ठो आयंकेण,
गिलाणो परितप्पइ ।
पभीओ परलोगस्स,
कम्माणुप्पेहि अप्पणो ॥२०॥

भावार्थः-हे गौतम ! पहले तो ऐसे नास्तिक लोग विषयों के लोलुप हो कर कर्म बांध लेते हैं फिर जब उन कर्मों का उदय काल निकट आता है तो असाध्य रोगों से घिर जाते हैं। उस समय उन्हें बड़ी ग्लानि होती है। नर्कादि के दुखों से वे बड़े घबराते हैं और अपने किये हुए बुरे कर्मों के फलों को देख कर अत्यन्त खेद पाते हैं।

मूलः सुआ मे नरए ठाणा,

असीलाणं च जा गई ।
बालाणं कूरकम्माणं,
पगाढा जत्थ वेयणा ॥ २१ ॥

भावार्थः-हे आर्य ! नास्तिकजन नर्क और स्वर्ग किसी को भी न मान कर खूब पाप करते हैं। जब उन कर्मों का उदय काल निकट आता है तो उनको कुछ असारता मालूम होने लगती है। तब वे बोलते हैं कि सच है, हमने तत्वज्ञों द्वारा सुना है, कि नरक में पापियों के लिए कुम्भियाँ, वैतरणी नदी आदि स्थान हैं और उन दुष्कर्मियों की जो नारकीय गति होती है, वहाँ क्रूरकर्मी अज्ञानियों को प्रगाढ़ वेदना होती है।

मूलः-सव्वं विलविअं गीअं,
सव्वं नट्टं विडंबिअं ।
सव्वे आहरणा भारा,

सव्वे कामा दुहावहा ॥२२॥

भावार्थः-हे गौतम ! सारे गीत विलाप के समान हैं। सारे नृत्य विडम्बना के समान हैं। सारे रत्न जड़ित आभरण भार रूप हैं। और सम्पूर्ण काम भोग जन्म जन्मांतरों में दुख देने वाले हैं।

मूलः-जहेह सीहो व मिअं गहाय,
मच्चू नरं नेइ हु अन्तकाले।
न तस्स माया व पिआ व भाया,
कालम्मि तम्मंसहरा भवंति ॥२३॥

5 13/22

भावार्थः-हे आर्य ! जिस प्रकार सिंह भागते हुए मृग को पकड़ कर उसे मार डालता है। इसी तरह मृत्यु भी मनुष्य का अन्त कर डालती है। उस समय उस के माता पिता भाई आदि कोई भी उसके दुख का बँटवारा करके भागीदार नहीं बनते। अपनी निजी आयु में से

आयु का कुछ भाग दे कर मृत्यु से उसे बचा नहीं सकते हैं।

मूलः-इमं च मे अत्थि इमं च नत्थि,
इमं च मे किच्चमिमं अकिच्चं।
तं एवमेवं लालप्पमाणं,
हरा हरंति त्ति कहं पमाए ॥२४॥

भावार्थः-हे गौतम! यह मेरा है, यह मेरा नहीं है यह काम करने का है और यह बिना लाभ का व्यापार आदि मेरे नहीं करने का है। इस प्रकार बोलने वालों का आयु तो रात दिन रूप चोर हरण करते जा रहे हैं। फिर प्रमाद क्यों करते हो? अर्थात् एक ओर मेरे-तेरे की कल्पना और करने न करने के संकल्प चालू बने रहते हैं और दूसरी ओर काल रूपी चोर जीवन को हरण कर रहा है अतः शीघ्र ही सावधान हो कर परमार्थ-साधन में लग जाना चाहिए।

॥ इति त्रयोदशोऽध्यायः ॥

* ॐ *

वैराग्य-सम्बोधन

॥ अध्याय चौदहवाँ ॥

॥ भगवान् श्री ऋषभ उवाच ॥ सू॰ २।१।१

मूलः-संबुज्झह किं न बुज्झह,
संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।
णो हूवणमंति राइओ,
नो सुलभं पुणरवि जीवियं ॥१॥

भावार्थः-हे पुत्रो ! सम्यक्त्वरूप धर्म बोध को प्राप्त करो। सब तरह से सुविधा होते हुए भी धर्म को प्राप्त क्यों नहीं करते ? अगर मानव जन्म में धर्म-बोध प्राप्त न किया, तो फिर धर्म-बोध प्राप्त होना महान् कठिन है। गया हुआ समय तुम्हारे लिए वापस लौट कर आने का नहीं, और न मानव जीवन ही सुलभता से मिल सकता है।

मूलः-डहरा बुड्ढाय पासह,

गब्भत्था वि चयंति माणवा ।
सेणे जह वट्टयं हरे,
एवं आउ खयम्मि तुट्टई ॥२॥

भावार्थः-हे पुत्रो ! देखो कितनेक बालवय में ही तथा कितनेक वृद्धावस्था में अपने मानव-शरीर को छोड़ कर यहां से चल बसते हैं। और कितनेक गर्भावास में ही मरण को प्राप्त हो जाते हैं। जैसे, बाज पक्षी अचानक बटेर को आ दबोचता है, वैसे ही न मालूम किस समय आयु के क्षय हो जाने पर मृत्यु प्राणों को हरण कर लेगी। अर्थात् आयु के क्षय होने पर मानव-जीवन की शृंखला टूट जाती है।

मूलः-मायाहिं पियाहिं लुप्पइ,
नो सुलहा सुगई य पेच्चओ ।
एयाइं भयाइं पेहिया,

आरंभा विरमेज्ज सुव्वए ॥ ३ ॥

भावार्थः-हे पुत्रो ! माता पितादि कौटुम्बिक जनों के मोह में फँस कर जिसने धर्म नहीं किया, वह उन्हीं के कारण संसार के चक्र में अनेक प्रकार के कष्टों को उठाता हुआ भ्रमण करता रहता है, और जन्म जन्मान्तरों में भी उसे सुगति का मिलना सुलभ नहीं है। अतः इस प्रकार संसारमें भ्रमण करने से होनेवाले अनेकों कष्टों को देख कर जो हिंसा, झूँठ, चोरी, व्यभिचार आदि कामों से विरक्त रहे-वही मानव-जीवन को सफल करने वाला सुव्रती पुरुष है।

मूलः-जमिणं जगती पुढो जगा,
कम्मेहिं लुप्पंति पाणिणो।
सयमेव कडेहिं गाहइ,
णो तस्स मुच्चेज्जऽपुट्ठयं ॥४॥

भावार्थः-हे पुत्रो ! जो हिंसादि से मुं

सू. २।१।४

नहीं मोड़ते हैं, वे इस संसार में पृथ्वी, पानी, नरक और तिर्यञ्च आदि अनेकों स्थानों और योनियों में कष्टों के साथ घूमते रहते हैं। क्योंकि उन्होंने स्वयमेव ही ऐसे कार्य किये हैं, कि जिन कर्मों के भोगे बिना उनका छुटकारा कभी हो ही नहीं सकता है।

मूलः-विरया वीरा समुट्ठिया,
कोहकायरियाइपीसणा।
पाणे ण हणंति सव्वसो,
पावाओ विरयाभिनिव्वुडा ॥५॥

सू०/१२

भावार्थः-हे पुत्रो ! मार काट या युद्ध करके कोई वीर कहलाना चाहे तो वास्तव में वह वीर नहीं है। वीर तो वह है जो पौद्गलिक सुखों से अपना मन मोड़ लेता है, सदाचार का पालन करने में सदैव सावधानी रखता है, क्रोध, मान, माया, और लोभ इन्हें अपना आन्तरिक शत्रु,

समझ कर, इनके साथ युद्ध करता रहता है और उस युद्ध में उन्हें नष्ट कर विजय प्राप्त करता है, मन, वचन, और काया से किसी तरह दूसरों के हक़ में बुरा न हो, ऐसा हमेशा ध्यान रखता रहता है, और हिंसादि आरम्भ से दूर रह कर जो उपशांत चित्त से रहता है।

मूलः—जे परिभवई परं जणं,
संसारे परिवत्तई महं।
अदु इंखिणिया उ पाविया,
इति संखाय मुणी ण मज्जई ॥६॥

सू० २।१।२

भावार्थः हे पुत्रो! जो मनुष्य अपने से जाति, कुल, बल, रूप आदि में न्यून हो, उसकी अवज्ञा या निन्दा करने से, वह मनुष्य दीर्घ काल तक संसार में परिभ्रमण करता रहता है। जिस वस्तु को पाकर निन्दा की थी, वह पापिनी निन्दा उस से भी अधिक हीनावस्था में पटकनेवाली है। ऐसा

जान कर साधु जन न तो कभी दूसरे की निन्दा ही करते है. और न, पायी हुई वस्तु ही का कभी गर्व करते हैं।

मूलः-जे इह सायाणुगनरा,
अज्झोववन्ना कामेहिं मुच्छिया।
किवणेण समं पगब्भिया,
न वि जाणंति समाहिमाहितं ॥७॥

सू २/३/५

भावार्थः-हे पुत्रो! इस संसार में अनेक प्रकार के वैभवों से युक्त जो मनुष्य हैं, वे काम भोगों में आसक्त होकर कायर की तरह बोलते हुए, धर्माचरण में हठीलापन दिखाते हैं, उन्हें ऐसा समझो कि वे वीतराग के कहे हुए समाधि मार्ग को नहीं जानते हैं।

मूलः-अद्दक्खुव दक्खुवाहियं,
सद्दहसु अद्दक्खुदंसणा।

सूय २/३/११

हंदि हु सुनिरुद्धदंसणे,
मोहणिज्जण कडेण कम्मुणा ॥८॥

भावार्थः हे पुत्रो! कर्मों के शुभाशुभ फल होते हुए भी जो उसकी नास्तिकता बताता है, वह अन्धा ही है। ऐसे को कहना पड़ता है, कि जिन्होंने प्रत्यक्ष रूप में अपने केवल ज्ञान के बल से स्वर्ग नरकादि देखे हैं उन के वाक्यों को प्रमाण भूत, वह माने और उनके कहे हुए वाक्यों को, ग्रहण कर उनके अनुसार अपनी प्रकृति बनावे। हे ज्ञान शून्य मनुष्यो! तुम कहते हो कि वर्तमान् काल में जो होता है, वही है और सब ही नास्तिरूप हैं। ऐसा कहने से तुम्हारे पिता और पितामह की भी नास्तिकता सिद्ध होगी। और जब इन की ही नास्ति होगी, तो तुम्हारी उत्पत्ति कैसे हुई? पिता के बिना पुत्र की कभी उत्पत्ति हो ही नहीं सकती। अतः भूत काल में भी पिता था, ऐसा अवश्य मानना होगा। इसी तरह भूत और भविष्य काल में नरक स्वर्ग आदि के होने

वाले सुख दुख भी अवश्य हैं। कर्मों के शुभाशुभ फल स्वरूप नरक स्वर्गादि नहीं है, ऐसा जो कहता है, उसका सम्यक् ज्ञान मोहवश किये हुए कर्मों से ढँका हुआ है।

मूलः—गारं पि अ आवसे नरे,
अणुपुव्वं पाणेहिं संजए।
समता सव्वत्थ सुव्वते,
देवाणं गच्छ सलोगयं ॥६॥

सू २/३/१३

भावार्थः—हे पुत्रो! जो गृहस्थावास में रह कर भी धर्म श्रवण करके अपनी शक्ति के अनुसार अपनों तथा परायों पर सब जगह समभाव रखता हुआ प्राणियों की हिंसा नहीं करता है वह गृहस्थ भी इस प्रकार का व्रत अच्छी तरह पालता हुआ स्वर्ग को जाता है। भविष्य में उसके लिए मोक्ष भी निकट ही है।

॥ श्रीसुधर्मोवाच ॥

मूलः-अभविंसु पुरा वि भिक्खुवो,
आएसा वि भवंति सुव्वता।
एताइं गुणाइं आहु ते,
कासवस्स अणुधम्मचारिणो॥१०॥

सू २/३/२०

भावार्थः-हे भिक्षुको! जो बीते हुए काल में तीर्थंकर हुए हैं, उनके और भविष्यत् में होंगे उन सभी तीर्थंकरों के, कथनों में अन्तर नहीं होता है। सभी का मन्तव्य एक ही सा है। क्यों-कि वे सुव्रती होने से राग द्वेष रहित जो जिनपद है, उसको प्राप्त कर लेते हैं और सर्वज्ञ सर्वदर्शी होते हैं। इसी से ऋषभदेव और भगवान् महावीर आदि सभी "ज्ञान दर्शन चारित्र से मुक्ति होती है," ऐसा एक ही सा कथन करते हैं।

॥ श्रीऋषभोवाच ॥

मूलः-तिविहेण वि पाण मा हणे,

सू. २/३/२१

आयहिते अणियाण संवुडे।
एवं सिद्धा अणंतसो,
संपइ जे अणागयावरे। ॥११॥

भावार्थः-हे पुत्रों ! जो आत्म हित के लिए एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय पर्यंत प्राणी मात्र की मन. वचन, और कर्म से हिंसा नहीं करते हैं. और अपनी इन्द्रियों को विषय वासना की ओर घूमने नहीं देते हैं, बस, इसी व्रत के पालन करते रहने से भूत काल में अनंत जीव मोक्ष पहुँचे हैं। और वर्तमान में जा रहे हैं। इसी तरह भविष्यत् काल में भी जावेंगे।

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-संबूज्झहा जंतवो माणुसत्तं,
दट्ठुं भयं बालिसेणं अलंभो।
एगंतदुक्खे जरिए व लोए,

सकम्मुणा विप्परियासुवेइ ॥१२॥

भावार्थः-हे मनुजो! दुर्लभ मनुष्य भव को प्राप्त कर के फिर भी जो सम्यक्-ज्ञान आदि को प्राप्त नहीं करते हैं, और नरकादि के नाना प्रकार के दुख रूप भयों के होते हुए भी मूर्खता के कारण विवेक को प्राप्त नहीं करते हैं, वे अपने किये हुए कर्मों के द्वारा ज्वर से पीड़ित मनुष्यों की तरह एकान्त दुखकारी जो यह लोक है, इसमें पुनः पुनः जन्म मरण को प्राप्त करते हैं।

मूलः-जहा कुम्मे सअंगाइं,
सए देहे समाहरे।
एवं पावाइं मेधावी,
अज्झप्पेण समाहरे ॥१३॥

भावार्थः-हे आर्य! जैसे कछुआ अपना अहित होता हुआ देखकर अपने अङ्गोपाङ्गों को

अपने शरीर में सिकोड़ लेता है, इसी तरह पण्डित जन भी विषयों की ओर जाती हुई अपनी इन्द्रियों को अध्यात्मिक ज्ञान से संकुचित कर रखते है ।

सू 8/1/17

मूलः-साहरे हत्थपाए य,
मणं पंचिंदियाणि य ।
पावकं च परीणामं भासा,
दोसं च तारिसं ॥ १४ ॥

भावार्थः-हे आर्य ! जो ज्ञानी जन हैं, वे कछुए की तरह अपने हाथ पावों को संकुचित रखते हैं । अर्थात् उनके द्वारा पाप कर्म नहीं करते हैं । और पापों की ओर घूमते हुए इस मन के वेग को रोकते हैं ! विषयों की ओर इन्द्रियों को झाँकने तक नहीं देते हैं । और बुरे भावों को हृदय में नहीं आने देते । और जिस भाषा से दूसरों का बुरा होता हो, ऐसी भाषा भी कभी नहीं बोलते हैं ।

मूलः-एयं खु णाणिणो सारं,

सू 11/1/10

जं न हिंसति कंचणं ।
अहिंसा समयं चेव,
एतावंतं वियाणिया ॥१५॥

भावार्थः-हे आर्य ! ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् उन ज्ञानियों का सारभूत तत्व यही है, कि वे किसी जीव की हिंसा नहीं करते। वे अहिंसा ही को शास्त्रीय प्रधान विषय समझते हैं। वास्तव में इतना जिसे सम्यक् ज्ञान है वही यथेष्ट ज्ञानीजन है। बहुत अधिक ज्ञान सम्पादन करके भी यदि हिंसा को न छोड़े, तो उनका विशेष ज्ञान भी अज्ञान रूप है।

मूलः-संबुज्झमाणे उ णरे मतीमं,
पावाउ अप्पाण निवट्टएज्जा ।
हिंसप्पसूयाइं दुहाइं मत्ता,
वेराणुबंधीणि महब्भयाणि ॥१६॥

भावार्थः-हे आर्य ! बुद्धिमान् मनुष्य वही है, जो सम्यक् ज्ञान को प्राप्त करता हुआ, हिंसा से उत्पन्न होने वाले दुखों को कर्म बंध का हेतु और महा भयकारी मान कर, पापों से अपनी आत्मा को दूर रखता है।

मूलः-आयगुत्ते सया दंते,
छिन्नसोए अणासवे ।
जे धम्मं सुद्धमक्खाति,
पडिपुन्नमणेलिसं ॥ १७ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! जो अपनी आत्मा का दमन करता है, इन्द्रियों के विषयों के साथ जो विजय को प्राप्त करता है, संसार में परिभ्रमण करने के हेतुओं को नष्ट कर डालता है और नवीन कर्मों का बंध नहीं करता है, अथवा इष्ट वियोग और अनिष्ट संयोग आदि होने पर भी जो शोक नहीं करता-समभावी बना रहता है, वही ज्ञानी

जन हितकारी धर्म मूलक तत्त्वों को कहता है।

मूलः-न कम्मुणा कम्म खवेंति बाला,
अकम्मुणा कम्म खवेंति धीरा।
मेधाविणो लोभमयावतीता,
संतोसिणो नो पकरेंति पावं॥१८॥

सू० १२।१५

भावार्थः-हे गौतम! हिंसादि के द्वारा पूर्व संचित कर्मों को हिंसादि ही से जो अज्ञानी जीव नष्ट करना चाहते हैं, यह उनकी भूल है। प्रत्युत कर्मनाश के बदले उनके गाढ़ कर्मों का बंध होता है। क्योंकि खून से भींगा हुआ कपड़ा खून ही के द्वारा कभी साफ़ नहीं होता है, बुद्धिमान् तो वही हैं, जो हिंसादि के द्वारा बँधे हुए कर्मों को अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य, आकिंचन्य आदि के द्वारा नष्ट करते हैं। और वे लोभ और मद से रहित होकर संतोषी हो जाते हैं। वे फिर भविष्यत् में नवीन पाप कर्म नहीं करते हैं। यहां 'लोभ' शब्द राग का सूचक और 'मद' द्वेष का सूचक है।

अतएव लोभ-मया शब्द का अर्थ राग द्वेष समझना चाहिए।

मूलः-डहरे य पाणे वुड्ढे य पाणे,
ते आत्तओ पासइ सव्वलोए।
उव्वेहती लोगमिणं महंतं,
बुद्धेऽपमत्तेसु परिव्वएज्जा ॥१६॥

सू13/18

भावार्थः-हे गौतम! चींटियाँ, मकोड़े कुंथुवे, आदि छोटे छोटे प्राणी और गाय, भैंस, हाथी, बकरा आदि बड़े बड़े प्राणी आदि सभी को अपने आत्मा के समान जो समझता है। और महान् लोक को चराचर जीव के जन्म मरण से अशाश्वत देख कर जो बुद्धिमान् मनुष्य संयम में रत रहता है। वही मोक्ष में पहुँचने का अधिकारी है।

॥ इति चतुर्दशोऽध्यायः ॥

* ॐ *

मनो-निग्रह

(अध्याय पंद्रहवां)

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-एगे जिए जिया पंच,
पंच जिए जिया दस ।
दसहा उ जिणित्ताणं,
सव्वसत्तू जिणामहं ॥ १ ॥

भावार्थः-हे मुनि ! एक मन को जीत लेने पर पाँचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करली जाती है। और पाँचों इन्द्रियों को जीत लेने पर एक मन पाँच इन्द्रियाँ और क्रोध, मान, माया, लोभ ये दशों ही जीत लिये जाते हैं । और, इन दशों को जीत लेने से, सभी शत्रुओं को जीता जा सकता है। इसीलिए सब मुनि और गृहस्थों के लिए एक बार मन को जीत लेना श्रेयस्कर है।

मूलः-मणो साहसिश्रो भीमो,
दुट्ठस्सो परिधावई ।
तं सम्मं तु निगिएहामि,
धम्मसिक्खाइ कंथगं ॥२॥

भावार्थः-हे मुनि ! यह मन अनर्थों के करने में बड़ा साहसिक और भयंकर है। जिस प्रकार दुष्ट घोड़ा इधर उधर दौड़ता है, उसी तरह यह मन भी ज्ञान रूप लगाम के बिना इधर उधर चक्कर मारता फिरता है। ऐसे इस मन को धर्म रूप शिक्षा से जातिवंत घोड़े की तरह मैंने निग्रह कर रक्खा है। इसी तरह सब मुनियों को चाहिए, कि वे ज्ञान रूप लगाम से इस मन को निग्रह करते रहें।

मूलः-सच्चा तहेव मोसा य,
सच्चामोस तहेव य ।
चउत्थी असच्चमोसा य,

मणगुत्ती चउव्विहा ॥३॥

भावार्थः-हे गौतम ! मन चारों ओर घूमता रहता है । (१) सत्य विषय में; (२) असत्य विषय में; (३) कुछ सत्य और कुछ असत्य विषय में, (४) सत्य भी नहीं, असत्य भी नहीं ऐसे असत्यमृषा विषय में प्रवृत्ति करता है । जब यह मन असत्य कुछ सत्य और कुछ असत्य इन दो विभागों में प्रवृति करता है तो महान् अनर्थों को उपार्जन करता है । उन अनर्थों के भार से आत्मा अधोगति में जाती है । अतएव असत्य और मिश्र की ओर घूमते हुए इस मन को निग्रह कर के रखना चाहिए ।

मूलः-संरंभसमारंभे,
आरंभम्मिय तहेव य ।
मणं पवत्तमाणं तु,

21

निअत्ति'ज्ज जयं जई ॥४॥

भावार्थः-हे गौतम ! यत्नवान् साधु हो, या गृहस्थ हो, चाहे जो हो, किन्तु मन के द्वारा कभी भी ऐसा विचार तक न करे, कि अमुक को मार डालूँ या उसे किसी तरह पीड़ित कर दूँ। तथा उसका सर्वस्व नष्ट कर डालूँ। क्योंकि मन के द्वारा ऐसा विचार मात्र कर लेने से वह आत्मा महा पातकी बन जाता है। अतएव हिंसक अशुभ परिणामों की ओर जाते हुए इस मन को पीछा घुमाओ, और निग्रह कर के रक्खो। इसी तरह कर्म बन्धने की ओर घूमते हुए, वचन और काया को भी निग्रह करके रक्खो।

---

(१) नियतिज्ज-ऐसा भी कहीं कहीं आता है, ये दोनों शुद्ध है। क्योंकि क. ग. च. द. आदि वर्णों का लोप करने से 'अ' अवशेष रह जाता है। उस जगह 'अवर्णो य श्रुतिः' इस सूत्र से 'अ' की जगह 'य' का आदेश होता है ऐसा अन्यत्र भी समझलें।

मूलः--वत्थगंधमलंकारं,
इत्थीओ सयणाणि य।
अच्छंदा जे न भुंजंति,
न से चाइ त्ति वुच्चइ ॥५॥

दश। २।२

भावार्थः-हे आर्य ! सम्पूर्ण परित्याग अवस्था में, या गृहस्थ की सामायिक अथवा पौषध अवस्था में, अथवा त्याग होने पर कई प्रकार के बढ़िया वस्त्र, सुगंध इत्र, आदि भूषण वगैरह एवं स्त्रियों और शय्या आदि के सेवन करने की जो मन द्वारा केवल इच्छा मात्र ही करता है, परन्तु उन वस्तुओं को पराधीन होने से भोग नहीं सकता है, उसे त्यागी नहीं कहते हैं, क्योंकि उसकी इच्छा नहीं मिटी, वह मानसिक त्यागी नहीं बना है।

मूलः-जे य कंते पिए भोए,
लद्धे वि पिट्ठिकुव्वइ ।

3

साहीणे चयई भोए,
से हु चाइ त्ति वुच्चइ ॥६॥

भावार्थः-हे गौतम ! जो गृहस्थाश्रम में रह रहा है, उसको सुन्दर और प्रिय भोग प्राप्त होने पर भी उन भोगों से उदासीन रहता है, अर्थात् अलिप्त रहता हुआ उन भोगों को पीठ दे देता है, यही नहीं, स्वाधीन होते हुए भी उन भोगों का परित्याग करता है । वही निश्चय रूप से सच्चा त्यागी है ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं ।

मूलः-समाए पेहाए परिव्वयंतो,
सिया मणो निस्सरई बहिद्धा ।
"न सा महं नो वि अहं पि तीसे,"
इच्चेव ताओ विणएज्ज रागं ॥७॥

4

भावार्थः-हे आर्य ! सभी जीवों पर सम

दृष्टि रख कर आत्मिक ज्ञानादि गुणों में रमण करते हुए भी प्रमाद वश यह मन कभी संयमी जीवन से बाहर निकल जाता है; क्योंकि हे गौतम! यह मन बड़ा चंचल है वायु की गति से भी अधिक तीव्र गतिमान् है, अतः जब संसार के मन मोहक पदार्थों की ओर यह मन चला जाय, उस समय यों विचार करना चाहिए, कि मनकी यह धृष्टता है, जो सांसारिक प्रपंच की ओर घूमता है। स्त्री, पुत्र, धन वग़ैरह सम्पत्ति मेरी नहीं है। और मैं भी उन का नहीं हूँ। ऐसा विचार कर उस सम्पत्ति से स्नेह भाव को दूर करना चाहिए। जो इस प्रकार मन को निग्रह करता है, वही उत्तम मनुष्य है।

मूलः-पाणिवहमुसावाया,
अदत्तमेहुणपरिग्गहा विरओ।
राईभोयणविरओ,
जीवो होइ अणासवो ॥८॥

भावार्थः-हे गौतम ! आत्मा ने चाहे जिस जाति व कुल में जन्म लिया हो, अगर वह हिंसा, झूँठ, चोरी, व्यभिचार, ममत्व और रात्रि भोजन से पृथक् रहती हो तो वही आत्मा अनाश्रव×होती है। अर्थात्-उस के भावी नवीन पाप रुक जाते हैं। और जो पूर्व भवों के संचित कर्म हैं, वे यहाँ भोग करके नष्ट कर दिये जाते हैं।

मूलः-जहा महातलागस्स,
सन्निरुद्धे जलागमे ।
उस्सिंचणाए तवणाए,
कम्मेणं सोसणा भवे ॥ ६ ॥

5

भावार्थः-हे आर्य ! जिस प्रकार एक बड़े भारी तालाव का जल आने के मार्ग को रोक देने पर नवीन जल उस तालाव में नहीं आ सकता है। फिर उस तालाव में रहे हुए जल को किसी

× Free from the influx of karma.

प्रकार उलीच कर बाहर निकाल देने से अथवा सूर्य के आतप से क्रमशः वह सरोवर सूख जाता है। अर्थात् फिर उस तालाव में पानी नहीं रह सकता है।

मूलः-एवं तु संजयस्सावि,
पावकम्मनिरासवे।
भवकोडिसंचियं कम्मं,
तवसा निज्जरिज्जइ ॥१०॥

भावार्थः-हे गौतम! जैसे तालाव में नवीन आते हुए पानी को रोक कर पहले के पानी को उलीचने से तथा आतप से उसका शोषण हो जाता है। इसी तरह संयमी जीवन बिताने वाला यह जीव भी हिंसा, झूठ, चोरी व्यभिचार, और ममत्व द्वारा आते हुए पाप को रोक कर, जो करोड़ों भवों में पहले संचित किये हुए कर्म हैं उन को तपस्या द्वारा क्षय कर लेता है। तात्पर्य

यह है कि आगामी कर्मों का संवर और पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा ही कर्म क्षय-मोक्ष-का कारण है।

मूलः-सो तवो दुविहो वुत्तो,
बाहिरब्भिंतरो तहा।
बाहिरो छव्विहो वुत्तो,
एवमब्भिंतरो तवो ॥११॥

भावार्थः-हे आर्य! जिस तप से, पूर्व संचित कर्म नष्ट किये जाते हैं, वह तप दो प्रकार का है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। बाह्य के छः प्रकार हैं। इसी तरह आभ्यन्तर के भी छः प्रकार हैं।

मूलः-अणसणमूणोयरिया,
भिक्खायरिया य रसपरिच्चाओ।
कायकिलेसो संलीणया,

य बज्झो तवो होइ ॥१२॥

भावार्थः-हे गौतम! एक दिन, दो दिन यों छः छः महीने तक भोजन का परित्याग करना, या सर्वथा प्रकार से भोजन का परित्याग कर के संथारा कर ले उसे अनशन * तप कहते हैं। भूख सहन कर कुछ कम खाना, उसको ऊनोदरी तप कहते हैं। अनैमित्तिक भोजी हो कर नियमानुकूल माँग करके भोजन खाना वह भिक्षाचर्या नाम का तप है। घी, दूध, दही, तेल और मिष्टान्न आदि का परित्याग करना, वह रस परित्याग तप है। शीत व ताप आदि को सहन करना काय क्लेश नाम का तप है। और पाँचों इन्द्रियों को वश में करना एवं क्रोध, मान, माया, लोभ पर विजय प्राप्त करना, मन वचन काया के अशुभ योगों को रोकना यह छठा संलीनता तप है। इस तरह बाह्य तप के द्वारा आत्मा अपने पूर्व संचित कर्मों का क्षय कर सकता है।

---

* [Giving up food and water for some time or permanently]

मूलः-पायच्छित्तं विणओ,
वेयावच्चं तहेव सज्झाओ।
झाणं च विउस्सग्गो,
एसो अब्भिंतरो तवो ॥१३॥

भावार्थः-हे आर्य! यदि भूल से कोई गलती हो गयी हो तो उसकी आलोचक के पास आलोचना करके शिक्षा ग्रहण करना, इस को प्रायश्चित्त तप कहते हैं। विनम्र भावों मय अपना रहन सहन बना लेना, यह विनय तप कहलाता है सेवा धर्म के महत्व को समझकर सेवा धर्म का सेवन करना वैयावृत्य नामक तप है, इसी तरह शास्त्रों का मनन पूर्वक पठन पाठन करना स्वाध्याय तप है। शास्त्रों में बताये हुव तत्वों का बारीक दृष्टि से मनन पूर्वक चिन्तवन करना ध्यान तप कहलाता है, और शरीर से सवथा ममत्व को परित्याग कर देना यह छठा व्युत्सर्ग तप है। यों ये छः प्रकार के आभ्यन्तर तप हैं। इन बारह प्रकार के तप में,से

जितने भी बन सकें, उतने प्रकार के तप करके पूर्व संचित करोड़ों जन्मों के कर्मों को यह जीव सहज ही में नष्ट कर सकता है।

मूलः-रूवेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे से जह वा पयंगे,
आलोअलोले समुवेइ मच्चुं॥१४॥

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे देखने का लोलुपी पंतग जलते हुए दीपक की लौ पर गिर कर अपनी जीवन लीला समाप्त कर देता है। वैसे ही जो आत्मा इन चक्षुओं के वशवर्ती हो विषय सेवन में अत्यन्त लोलुप हो जाता है, वह शीघ्र ही असमय में अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है।

मूलः सद्देसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,

अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे हरिणमिए व्व मुद्धे,
सद्दे अतित्ते समुवेइ मच्चुं।।१५।।

भावार्थः-हे आर्य ! राग भाव में लवलीन हित अहित का अनभिज्ञ, श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में अतृप्त ऐसा जो हिरण है वह, केवल श्रोत्रेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर अपना प्राण खो बैठता है। उसी तरह जो आत्मा श्रोत्रेन्द्रिय के विषय में लोलुप होता है, वह शीघ्र ही असमय में मृत्यु को प्राप्त हो जाता है,

मूलः-गंधेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं।
रागाउरे ओसहिगंधगिद्धे,
सप्पे बिलाओ विव निक्खमंते।।१६।।

भावार्थः-हे गौतम ! जैसे नागदमनी गंध

का लोलुप ऐसा जो रागातुर सर्प है, वह अपने बिल से बाहर निकलने पर मृत्यु को प्राप्त होता है । वैसे ही जो जीव गंध विषयक पदार्थों में लीन हो जाता है, वह शीघ्र ही असमय में अपनी आयु का अन्त कर बैठता है ।

मूलः-रसेसु जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,
अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे बडिस विभिन्न काए,
मच्छे जहा आमिसभोगगिद्धे ॥१७॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार मांस भक्षण के स्वाद में लोलुप जो रागातुर मच्छ है वह मरणावस्था को प्राप्त होता है । ऐसे ही जो आत्मा इस रसेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर अत्यन्त गृद्धिपन को प्राप्त होता है वह असमय ही में द्रव्य और भाव प्राणों से रहित हो जाता है ।

लमूः-फासस्स जो गिद्धिमुवेइ तिव्वं,

अकालिअं पावइ से विणासं ।
रागाउरे सीयजलावसन्ने,
गाहग्गहीए महिसे व रण्णे ॥१८॥

भावार्थः—जैसे बड़ी भारी नदी में त्वचेन्द्रिय के वशवर्ती हो कर और शीतल जल में पैठकर आनंद मानने वाला वह रागातुर भैंसा मगर से जब घेरा जाता है, तो सदा के लिए अपने प्राणों से हाथ धो बैठता है। ऐसे ही जो मनुष्य अपनी त्वचेन्द्रिय जन्य विषय में लोलुप होता है, वह शीघ्र ही असमय में नाश को प्राप्त हो जाता है।

हे गौतम ! जब इस प्रकार एक एक इन्द्रिय के वशवर्ती हो कर भी ये प्राणी अपना प्राणान्त कर बैठते हैं, तो भला उन की क्या गति होगी जो पांचों इन्द्रियों को पाकर उनके विषय में लोलुप हो रहे हैं ? अतः पांचों इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही मनुष्य मात्र का परम कर्त्तव्य और श्रेष्ठ धर्म है।

॥ इति पंचदशोऽध्यायः ॥

* ॐ *

आवश्यक कृत्य

(अध्याय सोलहवां)

॥ भगवान् श्री ऋषभ उवाच ॥

मूलः-समरेसु अगारेसु,
संधीसु य महापहे ।
एगो एगित्थिए सद्धिं,
णेव चिट्ठे ण संलवे ॥१॥

भावार्थः-हे गौतम ! लुहार की शून्य शाला में, या पड़े हुए खण्डहरों में, तथा दो मकानों के बीच में और जहां अनेकों मार्ग आकर मिलते हों वहां अकेला पुरुष अकेली औरत के साथ न कभी खड़ा ही रहे और न कभी कोई उससे वर्तालाप ही करे। ये सब स्थान उपलक्षण मात्र हैं तात्पर्य यह है कि कहीं भी पुरुष अकेली स्त्री से वार्त्तालाप न करे।

मूलः—साणं सूइअं गाविं,
दित्तं गोणं हयं गयं ।
संडिब्भं कलहं जुद्धं,
दूरओ परिवज्जए ॥ २ ॥

द५८ 5/11/12

भावार्थः—हे आर्य ! जहाँ श्वान, प्रसूता गाय, मतवाला बैल, हाथी, घोड़े खड़े हों या परस्पर लड़ रहे हों वहाँ ज्ञानी जन को नहीं जाना चाहिए। इसी तरह जहाँ बालक खेल रहे हों या मनुष्यों में परस्पर वाक् युद्ध हो रहा हो, अथवा शस्त्र-युद्ध हो रहा हो, ऐसी जगह पर जाना बुद्धि मानों के लिए दूर से ही त्याज्य है।

मूलः—एगया अचेलए होइ,
सचेले आवि एगया ।
एअं धम्महियं गाच्चा,
णाणी णो परिदेवए ॥३॥

5·2/3

भावार्थः-हे गौतम ! कभी ओढ़ने को वस्त्र हो या न हो, उस अवस्था में समभाव से रहना, बस इसी धर्म को हितकारी जान कर योग्य वस्त्रों के होने पर अथवा वस्त्रों के बिलकुल अभाव में या फटे टूटे वस्त्रों के सद्भाव में ज्ञानी जन कभी खेद नहीं पाते।

मूलः-अक्कोसेज्जा परे भिक्खुं,
न तेसिं पडिसंजले।
सरिसो होइ बालाणं,
तम्हा भिक्खू न संजले ॥४॥

5-2/25

भावार्थः-हे आर्य ! भिक्षु या साधु या ज्ञानी वही है, जो दूसरों के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उन पर बदले में क्रोध नहीं करता। क्यों कि क्रोध करने से ज्ञानी जन भी मूर्ख के सदृश कहलाता है। इसलिए बुद्धिमान् श्रेष्ठ मनुष्य को चाहिए कि, वह क्रोध न करे।

मूलः-समणं संजयं दंतं,
　　　　हणेज्जा को वि कत्थइ ।
नत्थि जीवस्स नासो त्ति,
　　　　एवं पेहिज्ज संजए ॥ ५ ॥

5 2/27

भावार्थः-हे गौतम ! सम्पूर्ण जीवों की रक्षा करने वाले, तथा इन्द्रिय और मन को जितने वाले ऐसे तपस्वी ज्ञानी जनों को कोई मूर्ख मनुष्य कहीं पर ताड़ना आदि करे तो उस समय वे ज्ञानी यों विचार करें कि जीव का तो नाश होता ही नहीं है। फिर किसी के ताड़ने पर व्यर्थ ही क्रोध क्यों करना चाहिए।

मूलः-बालाणं अकामं तु,
　　　　मरणं असइं भवे ।
पंडिआणं सकामं तु,
　　　　उक्केसेणं सइं भवे ॥ ६ ॥

5.5/3

भावार्थः-हे गौतम ! दुष्कर्म करने वाले अज्ञानियों को तो बार बार जन्मना और मरना पड़ता है। और जो ज्ञानी हैं वे अपना जीवन ज्ञान पूर्वक सदाचार मय बना कर मरते हैं वे एक ही बार में मुक्ति धाम को पहुँच जाते हैं। या सात आठ भव से तो ज्यादा जन्म मरण करते ही नहीं हैं।

मूलः-सत्थग्गहणं विसभक्खणं च,
जलणं च जलपवेसो य ।
अणायारभंडसेवी,
जम्मणमरणाणि बंधंति ॥७॥

5 36/366

भावार्थः-हे गौतम ! जो आत्म-हत्या करने के लिए, तलवार, बरछी, कटारी, आदि शस्त्र का प्रयोग करे। या अफ़ीम, संखिया, मोरा, वछनाग, हिरकणी आदि का उपयोग करे, अथवा अग्नि में पड़ कर, या अग्नि में प्रवेश कर या कुआ, बावड़ी, नदी, तालाव में गिर कर मरे तो उसका यह

मरण अज्ञान पूर्वक है । इस प्रकार मरने से अनेक जन्म और मरणों की वृद्धि के सिवाय और कुछ नहीं होता है। और जो मर्यादा के विरुद्ध अपने जीवन को कलुषित करने वाली सामग्री ही को प्राप्त करने के लिए रात दिन जुटा रहता है, ऐसे पुरुष की आयुष्य पूर्ण होने पर भी उसका मरण आत्म-हत्या के समान ही है ।

मूलः-अह पंचहिं ठाणेहिं,
जहिं सिक्खा न लब्भई ।
थंभा कोहा पमाएणं,
रोगेणालस्सएण य ॥ ८ ॥

भावार्थः--हे आर्य ! जिन पाँच कारणों से इस आत्मा को ज्ञान प्राप्त नहीं होता है, वे यों हैः क्रोध करने से, मान करने से, किये हुए कण्ठस्थ ज्ञान का स्मरण नहीं करके नवीन ज्ञान सीखते जाने से, रोगी अवस्था से और आलस्य से।

मूलः-अह अट्टहिं ठाणेहिं,
सिक्खासीले त्ति वुच्चइ।
अहस्सिरे सया दंते,
न य मम्ममुदाहरे ॥ ६ ॥
नासीले न विसीले अ,
न सिआ अइलोलुए।
अकोहणे सच्चरए,
सिक्खासीले त्ति वुच्चइ ॥१०॥

भावार्थः-हे गौतम ! अगर किसी को ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो तो, वह विशेष न हँसे सदैव खेल नाटक वग़ैरह देखने आदि के विषयों से इन्द्रियों का दमन करता रहे, किसी की मार्मिक बात को प्रकट न करे, शीलवान् रहे अपना आचार विचार शुद्ध रक्खे, अति लोलुपता से सदा दूर रहे, क्रोध न करे, और सत्य का सदैव अनुयायी

बना रहे, इस प्रकार रहने से ज्ञान की विशेष प्राप्ति होती है।

मूलः-जे लक्खणं सुविण पउंजमाणे,
निमित्तकोऊहलसंपगाढे।
कुहेडविज्जासवदारजीवी,
न गच्छइ सरणं तम्मि काले।११।

भावार्थः-हे गौतम! जो सब प्रपंच छोड़ करके साधु तो हो गया है मगर फिर भी वह स्त्री पुरुषों के हाथ व पैरों की रेखाएँ एवं तिल, मस आदि के भले बुरे फल बताता है, या स्वप्न के शुभाशुभ फलादेश को जो कहता है, एवं पुत्रोत्पत्ति आदि के साधन बताता है, इसी तरह मंत्र तंत्रादि विद्या रूप आश्रव के द्वारा जीवन का निर्वाह करता है तो उस के अन्त समय में, जब वे कर्म फल स्वरूप में आकर खड़े होंगे, उस समय उसके कोई भी शरण नहीं होंगे, अर्थात्

उस समय उसे दुख से कोई भी नहीं बचा सकेगा।

मूलः-पडंति नरए घोरे,
जे नरा पावकारिणो।
दिव्वं च गइं गच्छंति,
चरित्ता धम्ममारियं ॥१२॥

भावार्थः-हे आर्य ! जो आत्माएँ मानव जन्म को पा करके हिंसा, झूठ, चोरी, आदि दुष्कृत्य करती हैं वे पापात्माएँ, महा भयंकर जहाँ दुख हैं ऐसे नरक में जा गिरेंगी। और जिन आत्माओं ने अहिंसा, सत्य, दत्त, ब्रह्मचर्य आदि धर्म को अपने जीवन में खूब संग्रह कर लिया है, वे आत्माएँ यहाँ से मरने के पीछे जहाँ स्वर्गीय सुख अधिकता से होते हैं, ऐसे श्रेष्ठ स्वर्ग में जाती हैं।

मूलः-बहुआगमविण्णाणा,

समाहिउप्पायगा य गुणगाही।
एएण कारणेणं,
अरिहा आलोयणं सोउं ॥१३॥

भावार्थः-हे आर्य ! आन्तरिक बात उसके सामने प्रकट की जाय जो, कि बहुत शास्त्रों को जानता हो। जो प्रकाशक को सांतना देने वाला हो, गुणग्राही हो। उसी के सामने अपने हृदय की बात खुले दिल से करने में कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि इन बातों से युक्त मनुष्य ही आलोचक के योग्य है।

सू 15|5

मूलः-भावणाजोगसुद्धप्पा,
जले णावा व आहिया।
नावा व तीरसम्पन्ना,
सव्वदुक्खा तिउट्टइ॥१४॥

भावार्थः-हे गौतम ! शुद्ध भावना रूप

ध्यान से हो रही है आत्मा निर्मल जिनकी ऐसी शुद्धात्माएँ संसार रूप समुद्र में नौका के समान हैं। ऐसा ज्ञानियों ने कहा है। वे नौका के समान शुद्धात्माएँ आप स्वयं तिर जाती हैं और उनके उपदेश से अन्य जीव भी चरित्रवान् होकर सर्व दुख रूप संसार समुद्र का अन्त करके उसके परले पार पहुँच जाते हैं।

मूलः-सवणे नाणे विण्णाणे,
पच्चक्खाणे य संजमे।
अणाहए तवे चेव वोदाणे,
अकिरिया सिद्धी ॥ १५ ॥

भावार्थः-हे गौतम! सम्यक् ज्ञानियों की संगति से धर्म का श्रवण होता है, धर्म के श्रवण से ज्ञान की प्राप्ति होती है। ज्ञान से विशेष ज्ञान या विज्ञान होता है। विज्ञान से पापों के करने का प्रत्याख्यान होता है। प्रत्याख्यान से संयमी जीवन

की प्राप्ति होती है। संयमी जीवन से अनाश्रव, अर्थात् आते हुए नवीन कर्मों की रोक हो जाती है। फिर अनाश्रव से जीव तपवान बनता है। तपवान् होने से पूर्व संचित कर्मों का नाश हो जाता है। कर्मों के क्षय हो जाने से सावद्य क्रिया का आगमन भी बंद हो जाता है। जब क्रिया मात्र रुक गयी तो फिर बस, जीव की मुक्ति ही मुक्ति है। यों, सदाचारी पुरुषों की संगति करने से उत्तरोत्तर सद्गुण ही सद्गुण प्राप्त होते हैं। यहां तक कि उसकी मुक्ति हो जाती है।

सू० ३/२

मूलः—अवि से हासमासज्ज,
हंता णंदीति मन्नति।
अलं बालस्स संगेणं,
वेरं वड्ढति अप्पणो ॥ १६ ॥

भावार्थः-हे गौतम! सत्पुरुषों की संगति करने से इस जीव को गुणों की प्राप्ति होती है। और जो हास्यादि में आसक्त होकर प्राणियों की

हिंसा करके आनंद मानते है । ऐसे अज्ञानियों की संगत्ति कभी मत्त करो । क्योंकि ऐसे दुराचारियों का संसर्ग से शराब पीना, मांस खाना, हिंसा करना झूठ बोलना, चोरी करना, व्यभिचार का सेवन करना आदि दुष्कर्म बढ़ जाते हैं । और उन दुष्कर्मों से आत्मा को महान् कष्ट होता है । अतः मोक्षाभिलाषियों को अज्ञानियों की संगति कभी भूल कर भी नहीं करनी चाहिए ।

मूलः-आवस्सयं अवस्सं करणिज्जं,
धुवनिग्गहो विसोही अ ।
अज्झयणछक्कवग्गो,
नाओ आराहणा मग्गो ॥१७॥

भावार्थः-हे गौतम ! हमेशा इन्द्रियों के विषय को रोकने वाला, और अपवित्र आत्मा को भी निर्मल बनाने वाला, न्यायकारी, न जीवन को सार्थक करने वाला और मोक्ष म ।

का प्रदर्शक रूप छः अध्ययन पढ़ने के हैं जिस में ऐसा आवश्यक सूत्र साधु साध्वी तथा गृहस्थों को सदैव प्रातः काल और सायंकाल दोनों समय अवश्य करना चाहिये । जिसके करने से अपने नियमों के विरुद्ध दिन रात भर में भूल से किये हुए कार्यों का प्रायश्चित्त हो जाता है । हे गौतम ! वह आवश्यक यों है ।

अनुयोग

मूलः—सावज्जजोगविरई,
उक्कित्तण गुणवओ य पडिवत्ती ।
खलिअस्स निंदणा,
वणतिगिच्छ गुणधारणा चेव ॥१८॥

भावार्थः—हे गौतम ! जहाँ हरी वनस्पति चींटियाँ कुंथुए बहुत ही छोटे जीव वगैरह न हों ऐसे एकान्त स्थान पर कुछ भी पाप नहीं करना, ऐसा निश्चय करके, कुछ समय के लिए अपने चित्त को स्थिर कर लेना, यह आवश्यक का प्रथम

अध्ययन हुआ। फिर प्रभु की प्रार्थना करना, यह द्वितीय अध्ययन है। उसके बाद गुणवान् गुरुओं को विधि पूर्वक हृदय से नमस्कार करना यह तीसरा अध्ययन है। किये हुए पापों की आलोचना करना चौथा अध्ययन और उसका प्रायश्चित ग्रहण करना पांचवां अध्ययन और छठी बार यथा शक्ति त्याग की वृद्धि करे। इस तरह छः आवश्यक हमेशा दोनों समय करता रहे। यह साधु और गृहस्थों का नियम है।

मूलः-जो समो सव्वभूएसु,
तसेसु थावरेसु य।
तस्स सामाइयं होइ,
इइ केवलिभासियं ॥१६॥

भावार्थः-हे गौतम! जिस मनुष्य का हरी· वनस्पति आदि जीवों पर तथा हिलते फिरते प्राणी मात्र के ऊपर सम भाव है अर्थात् सूई चूभोने से

अपने को कष्ट होता है । ऐसे ही कष्ट दूसरों के लिये भी समझता है। बस, उसी की सामायिक होती है ऐसा वीतरागों ने प्रतिपादन किया है। इस तरह सामायिक करने वाला मोक्ष का पथिक बन जाता है ।

भ.श.6 उ.7

मूलः-तिण्णिय सहस्सा सत्त सयाइं,
तेहुत्तरिं च ऊसासा ।
एस मुहुत्तो दिट्ठो,
सव्वेहिं अणंतनाणीहिं ॥२०॥

भावार्थः-हे गौतम ! ३७७३ तीन हज़ार सात सौ तिहत्तर उच्छ्वासों का समूह एक मुहूर्त्त होता है । ऐसा सभी अनंत ज्ञानियों ने कहा है ।

॥ इति षोडशोऽध्यायः ॥

* ॐ *

नर्क स्वर्ग निरूपण

(अध्याय सत्रहवाँ)

॥ श्री भगवानोवाच ॥

मूलः-नेरइया सत्तविहा,
पुढविसु सत्तसू भवे ।
रयणाभासक्कराभा,
बालुयाभा य आहिआ ॥१॥

पंकाभा धूमाभा,
तमा तमतमा तहा ।
इइ नेरइआ एए,
सत्तहा परिकित्तिया ॥२॥

भावार्थः-हे गौतम ! एक से एक भिन्न

होने से नरक को ज्ञानी जनों ने सात प्रकार का कहा है। वे इस प्रकार हैं । (१) वेडुर्य रत्न के समान है प्रभा जिस की उसको रत्न प्रभा नाम से पहला नरक कहा है। (२) इसी तरह पाषाण, धूल, कर्दम, धूम्र के समान है प्रभा जिसकी उस॰ को यथाक्रम शर्करा प्रभा (३) बालुका प्रभा (४) पंक प्रभा और (५) धूम प्रभा कहते हैं। और जहां अन्धकार है उसको (६) तम प्रभा कहते हैं। और जहाँ विशेष अन्धकार है उसको (७) तम॰ तमा प्रभा सातवां नरक कहते हैं।

मूलः-जे केइ बाला इह जीवियट्ठी,
पावाइं कम्माइं करंति रुद्दा।
ते घोररूवे तमिसंधयारे,
तिव्वाभितावे नरए पडंति ॥३॥

सू २/५/१/३

भावार्थः-हे गौतम! इस संसार में कित॰ नेक ऐसे जीव हैं, कि वे अपने पाप मय जीवन के

लिए महान् हिंसा आदि पाप कर्म करते हैं। इसी लिए वे महान् भयानक और अत्यन्त अन्धकार युक्त तीव्र सन्ताप दायक-नरक में जा गिरते हैं और वर्षों तक अनेक प्रकार के कष्टों को सहन करते रहते हैं।

मूलः-तिव्वं तसे पाणिणो थावरे य,
जे हिंसती आयसुहं पडुच्च।
जे लूसए होइ अदत्तहारी,
ण सिक्खती सेयविस्स किंचि ॥४॥

सू 5।1।4

भावार्थः-हे गौतम ! जो मनुष्य, हलन चलन करने वाले अर्थात् त्रस तथा स्थावर जीवों की निर्दयता पूर्वक हिंसा करता है। और जो शारीरिक पौद्गलिक सुखों के लिए जीवों का उपमर्दन करता है। एवं दूसरों की चीजें हरण करने ही में अपने जीवन की सफलता समझता है। और किसी भी व्रत को अंगीकार नहीं करता, वह यहाँ

से मर कर नरक में जाता है। और स्व-कृत कर्मों के अनुसार वहाँ नाना भाँति के दुख भोगता है।

मूलः-छिंदंति बालस्स खुरेण नक्कं,
उट्ठे वि छिंदंति दुवेवि कण्णे।
जिब्भं विणिक्कस्स विहत्थिमित्तं,
तिक्खाहिसूलाभितावयंति ॥५॥

सू ५।१।२२

भावार्थः-हे गौतम ! जो अज्ञानी जीव, हिंसा, झूँठ चोरी और व्यभिचार आदि करके नरक में जा गिरते हैं। असुर कुमार परमाधामी उन पापियों के कान नाक और ओठों को छुरी से छेदते हैं। और उनके मुँह में से जिह्वा को बेंत जितनी लम्बाई भर बाहर खींच कर तीक्ष्ण शूलों से छेदते हैं।

मूलः-ते तिप्पमाणा तलसंपुडं व्व,
राइंदियं तत्थ थणंति बाला।

२३

गलंति ते सोणिअपूयमंसं,
　　पज्जोइया खारपइद्धियंगा ॥६॥

भावार्थः-हे गौतम ! नरक में गये हुए उन हिंसादि महान् आरम्भ के करने वाले नारकीय जीवों के नाक, कान आदि काटलेने से रुधिर बहता रहता है और वे रात दिन बड़े आक्रंदन स्वर से रोते हैं। और उस छेदे हुए अंग को अग्नि से जलाते हैं। फिर उसके ऊपर लवणादिक क्षार को छिटकते हैं। जिस से और भी विशेष रुधिर पूय और मांस झरता रहता है।

मूलः-रुहिरे पुणो वच्चसमुस्सिअंगे,
　　भिन्नुत्तमंगे परिवत्तयंता।
पयंति णं णेरइए फुरंते,
　　सजीवमच्छे व अयोकवल्ले ॥७॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिन आत्माओं ने

शरीर को आराम पहुँचाने के लिए हर तरह से अनेकों प्रकार के जीवों की हिंसा की है, वे आत्माएँ नरक में जा कर जब उत्पन्न होती हैं, तब परमाधामी देव दुर्गन्ध युक्त वस्तुओं से लिपटे हुए उन नारकीय आत्माओं के सिर छेदन कर उन्हीं के शरीर से खून निकाल उन्हें तप्त कड़ाहे में डालते हैं। और उन्हें खूब ही उबाल करके जलाते हैं। असुर कुमारों के ऐसा करने पर वे नारकीय आत्माएँ उस तपे हुए कड़ाहे में तप्त तवे पर डाली हुई सजीव मछली की तरह तड़फड़ाती हैं।

मूलः- नो चेव ते तत्थ मसीभवंति,
ण मिज्जती तिव्वाभिवेयणाए।
तमाणुभागं अणुवेदयंता,
दुक्खंति दुक्खी इह दुक्कडेणं ॥८॥

16

भावार्थः-हे गौतम! नारकीय जीव उन परमाधामी देवों के द्वारा पकाये जाने पर न तो भस्मीभूत ही होते हैं और न उस महान् भयानक

छेदन भेदन तथा ताड़न आदि ही से मरते हैं। किन्तु अपने किये हुए दुष्कर्मों के फलों को भोगते हुए बड़े कष्ट से समय बिताते रहते हैं।

मूलः—अच्छीनिमिलियमेत्तं,
नत्थि सुहं दुक्खमेव अणुबद्धं।
नरए नेरइयाणं,
अहोनिसं पच्चमाणाणं ॥६॥

भावार्थः—हे गौतम! सदैव कष्ट उठाते हुए नारकीय जीवों को एक पल भरभी सुख नहीं है। एक दुख के बाद दूसरा दुख उनके लिए तैयार रहता है।

मूलः—अइसीयं अइउरहं,
अइतराहा अइक्खुहा।
अईभयं च नरए नेरयाणं,

दुक्खसयाइं अविस्सामं ॥१०॥

भावार्थः-हे गौतम! नरक में रहे हुए जीवों को अत्यंत ठण्ड उष्ण भूख तृष्णा और भय आदि सैकड़ों दुःख एक के बाद एक लगातार रूप से कृत-कर्मों के फल रूप में भोगने पड़ते हैं।

मूलः-जं जारिसं पुव्वमकासि कम्मं।
तमेव आगच्छति संपराए।
एगंतदुक्खं भवमज्जणित्ता,
वेदंति दुक्खी तमणंतदुक्खं ॥११॥

सु 5/2/23

भावार्थः-हे गौतम! इस आत्मा ने जैसे पुण्य पाप किये हैं; उसी के अनुसार जन्म जन्मान्तर रूप संसार में उसे सुख दुख मिलते रहते हैं। यदि उसने विशेष पाप किये हैं तो जहां घोर कष्ट होते हैं ऐसे नारकीय जन्म उपार्जन करके वह

उस नरक में जा पड़ता है और अनंत दुखों को सहता रहता है।

मूलः-जे पावकम्मेहि धणं मणूसा,
समाययंती अमइं गहाय ।
पहाय ते पासपयट्टिए नरे,
वेराणुबद्धा नरयं उविंति ॥१२॥

भावार्थः-हे गौतम ! जो मनुष्य पाप बुद्धि से कुटुम्बियों के भरण पोषण रूप मोह-पाश में फँसता हुआ, गरीब लोगों को ठग कर अन्याय से धन पैदा करता है, वह मनुष्य धन और कुटुम्ब को यहीं छोड़ कर और जो पाप किये हैं उनको अपना साथी बना कर नरक में उत्पन्न होता है।

मूलः-एयाणि सोच्चा णरगाणि धीरे,
न हिंसए किंचण सव्वलोए ।

एगंतदिट्ठी अपरिग्गहे उ,
बुज्झिज्ज लोयस्स वसं न गच्छे ॥१३॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिसने सम्यक्त्व को प्राप्त कर लिया है और ममत्व से विमुख हो रहा है ऐसा बुद्धिमान् तो इस प्रकार के नारकीय दुखों को एक मात्र सुन कर किसी भी प्रकार की कोई हिंसा नहीं करेगा । यही नहीं वह क्रोध, मान, माया, लोभ तथा अहंकार रूप लोक के स्वरूप को समझ कर और उसके आधीन हो कर कभी भी कर्मों के बन्धनों को प्राप्त न करेगा । वह स्वर्ग में जाकर देवता होगा । देवता चार प्रकार के हैं । वे यों हैः—

मूलः-देवा चउव्विहा वुत्ता,
ते मे कित्तयओ सुण ।
भोमेज्ज वाणमन्तर,

जोइस वेमाणिया तहा ॥१४॥

भावार्थः--हे गौतम! देव चार प्रकार के होते हैं। उन्हें तू सुन। (१) भवनपति (२) वाणव्यन्तर (३) ज्योतिषी और (४) वैमानिक। भवनपति इस पृथ्वी से १०० योजन नीचे की ओर रहते हैं। वाणव्यन्तर १० योजन नीचे रहते हैं। ज्योतिषी देव ७९० योजन इस पृथ्वी से ऊपर की ओर रहते हैं। परन्तु वैमानिक देव तो इन ज्योतिषी देवों से भी असंख्य योजन ऊपर रहते हैं।

मूलः-दसहा उ भवणवासी,
अट्ठहा वणचारिणो।
पंचविहा जोइसिया,
दुविहा वेमाणिया तहा ॥१५॥

285

भावार्थः-हे गौतम! भवनपति देव दश प्रकार के हैं। वाणव्यन्तर आठ प्रकार के हैं और

ज्योतिषी पांच प्रकार के हैं। वैसे ही वैमानिक देव भी दो प्रकार के हैं। अब भवनपति के दश भेद कहते हैं।

मूलः-असुरा नागसुवण्णा,
विज्जू अग्गी वियाहिया।
दीवोदहि दिसा वाया,
थणिया भवणवासिणो ॥१६॥

205

भावार्थः-हे गौतम ! असुर कुमार, नाग कुमार सुवर्ण कुमार, विद्युत कुमार, अग्निकुमार द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिक्कुमार, पवनकुमार और स्तनितकुमार यों ज्ञानियों द्वारा दश प्रकार के भवनपति देव कहे गये हैं। अब आगे आठ प्रकार के वाणव्यन्तर देव यों हैं।

मूलः-पिसाय भूय जक्खा य,
रक्खसा किन्नरा किंपुरिसा।

206

महोरगा य गंधव्वा,
अट्ठ विहा वाणमन्तरा ॥१७॥

भावार्थः-हे गौतम ! वाणव्यन्तर देव आठ प्रकार के हैं। जैसे (१) पिशाच (२) भूत (३) यक्ष (४) राक्षस (५) किन्नर (६) किंपुरुष (७) महोरग और (८) गंधर्व। ज्योतिषी देवों के पाँच भेद यों हैं:—

मूलः-चन्दा सूरा य नक्खत्ता,
गहा तारागणा तहा।
ठिया विचारिणो चेव,
पंचहा जोइसालया ॥१८॥

287

भावार्थः-हे गौतम ! ज्योतिषी देव पाँच प्रकार के हैं। (१) चन्द्र (२) सूर्य (३) ग्रह (४) नक्षत्र और (५) तारागण। ये देव ढाइ-द्वीप के बाहर तो स्थिर रहने वाले हैं और उस

के भीतर चलते फिरते हैं। वैमानिक देवों के भेद यों हैं:—

मूलः-वेमाणिया उ जे देवा,
दुविहा ते वियाहिया ।
कप्पोवगा य बोद्धव्वा,
कप्पाईया तहेव य ॥१६॥

208

भावार्थः-हे गौतम ! वैमानिक देव दो प्रकार के हैं। एक तो कल्पोत्पन्न और दूसरे कल्पातीत। कल्पोत्पन्न से ऊपर के देव कल्पातीत कहलाते हैं। और जो कल्पोत्पन्न हैं वे बारह प्रकार के हैं। वे यों हैं:—

मूलः-कप्पोवगा बारसहा,
सोहम्मीसाणगा तहा ।
209 सणंकुमारमाहिन्दा,

बम्भलोगा य लंतगा ॥२०॥
महासुक्का सहस्सारा,
आणया पाणया तहा।
आरणा अच्चुया चेव,
इइ कप्पोवगा सुरा ॥२१॥

भावार्थः-हे गौतम! कल्पोत्पन्न देवों के बारह भेद हैं और वे यों हैः-(१) सुधर्म (२) ईशान (३) सनत्कुमार (४) महेन्द्र (५) ब्रह्म (६) लांतक (७) महाशुक्र (८) सहस्रार (९) आणत (१०) प्राणत (११) आरण और (१२) अच्युत ये देवलोक हैं। इन स्वर्गों के नामों पर से ही इन में रहने वाले इन्द्रों के भी नाम हैं। कल्पातीत देवों के नाम यों हैः—

मूलः-कप्पाईया उ जे देवा,
दुविहा ते वियाहिया।

गेविज्जाणुत्तरा चेव,
　　गेविज्जानवविहा तहिं ॥२२॥

भावार्थः-हे गौतम ! कल्पातीत देव दो प्रकार के हैं। एक तो ग्रैवेयक और दूसरे अणुत्तर वैमानिक। उन में भी ग्रैवेयक नौ प्रकार के और अणुत्तर पांच प्रकार के हैं।

मूलः-हेट्ठिमा हेट्ठिमा चेव,
　　हेट्ठिमा मज्झिमा तहा।
212 हेट्ठिमा उवरिमा चेव,
　　मज्झिमा हेट्ठिमा तहा ॥२३॥
213 मज्झिमा मज्झिमा चेव,
　　मज्झिमा उवरिमा तहा।
उवरिमा हेट्ठिमा चेव,
　　उवरिमा मज्झिमा तहा ॥२४॥

उवरिमा उवरिमा चेव,
इय गेविज्जगा सुरा ।
विजया वेजयंता य,
जयंता अपराजिया ॥२५॥

सव्वत्थसिद्धगा चेव,
पंचहाणुत्तरा सुरा ।
इइ वेमाणिया,
एएऽणेगहा एवमायओ ॥२६॥

भावार्थः—हे गौतम! बारह देवलोक से ऊपर नौ ग्रैवेयक जो हैं उन के नाम यों हैं । (१) भद्दे (२) सुभद्दे (३) सुजाये (४) सुमाणसे (५) सुदर्शने (६) प्रियदर्शने (७) अमोहे (८) सुपडिभद्दे और (९) यशोधर और पांच अनुत्तर विमान यों हैं:—(१) विजय (२) वैजयंत (३) जयंत (४) अपराजित (५) सर्वार्थसिद्ध, ये सब वैमानिक देवों के भेद बताए गये हैं ।

मूलः-जेसिं तु विउला सिक्खा,
5.7/21 मूलियं ते अइत्थिया ।

(१) किसी एक साहूकार ने अपने तीन लड़कों को एक एक हजार रुपया दे कर व्यापार करने के लिए इतर देश को भेजा । उन में से एक ने तो यह विचार किया कि अपने घर में खूब धन है । फिजूल ही व्यापार कर कौन कष्ट उठावे, अतः एशो आराम करके उसने मूल पूंजी को भी खो दिया । दूसरे ने विचार किया, कि व्यापार करके मूल पूंजी तो ज्यों की त्यों कायम रखना चाहिए । परन्तु जो लाभ हो उसे एशो आराम में खर्च कर देना चाहिए । और तीसरे ने विचार किया, कि मूल पूंजी को खूब ही बढ़ा कर घर चलना चाहिए । इसी तरह वे तीनों नियत समय पर घर आये । एक मूल पूंजी को खो कर, दूसरा मूल पूंजी लेकर, और तीसरा मूल पूंजी को खूब ही बढ़ा कर

सीलवंता सवीसेसा,
अदीणा जंति देवयं ॥ २७ ॥

घर आया। इसी तरह आत्माओं को मनुष्य-भव रूप मूल धन प्राप्त हुआ है। जो आत्माएँ मनुष्य भव रूप मूल धन की अपेक्षा करके खूब पापाचरण करती हैं वे मनुष्य-भव को खो कर नरक और तिर्यंच योनियों में जाकर जन्म धारण करती हैं। और जो आत्माएँ पाप करने से पीछे हटती हैं, वे अपनी मूल पूंजी रूप मनुष्य जन्म ही को प्राप्त होती हैं। परन्तु जो आत्मा अपना वश चलते सम्पूर्ण हिंसा, झूठ, चोरी, दुराचार, ममत्व आदि का परित्याग करके अपने त्याग धर्म में वृद्धि करती जाती हैं। वे सांसारिक सुख की दृष्टि से मनुष्य-भव रूपी मूल पूंजी से भी बढ़ कर देव-योनि को प्राप्त होती हैं। अर्थात् स्वर्ग में जाकर वे आत्माएँ जन्म धारण करती हैं और वहाँ नाना भाँति के सुखों को भोगती हैं।

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार के देव-लोकों में वे ही मनुष्य जाते हैं जो सदाचार रूप शिक्षाओं को अत्यन्त सेवन करते हैं और त्याग धर्म में जिन की निष्ठा दिनों दिन बढ़ती ही जाती है । वे मनुष्य, मनुष्य भव को त्याग कर स्वर्ग में जाते हैं ।

मूलः-विसालिसेहिं सीलेहिं,
　　　　जक्खा उत्तरउत्तरा ।
　महासुक्का वदिप्पंता,
　　　　मण्णंता अपुणच्चवं ॥२८॥
　अप्पिया देवकामाणं,
　　　　कामरूवविउव्विणो ।
　उड्ढं कप्पेसु चिट्ठंति,
　　　　पुव्वा वाससया बहू ॥२९॥

भावार्थः-हे गौतम ! आत्मा अनेक प्रकार

के सदाचारों का सेवन कर स्वर्ग में जाता है। तब वह वहां एक से एक देदीप्यमान् शरीरों को धारण करती है। और वहां दश हज़ार वर्ष से लेकर कई सागरोपम तक रहती है। वहां ऐसी आत्माएँ देव लोक के सुखों में ऐसी लीन हो जाती हैं, कि वहां से अब मानो वे कभी मरेंगी ही नहीं, इस तरह से वे मान बैठती हैं।

मूलः-जहा कुसग्गे उदगं,
समुद्देण समं मिणे।
एवं माणुस्सगा कामा,
देवकामाण अंतिए ॥३०॥

5.3.23

भावार्थः-हे गौतम! जिस प्रकार घास के अग्रभाग पर की जल की बूँद में और समुद्र की जलराशि में भारी अन्तर है। अर्थात् कहाँ तो पानी की बूँद और कहाँ समुद्र की जल राशि! इसी प्रकार मनुष्य संबंधी काम भोगों के सामने

देव संबंधी काम भोगों को समझना चाहिए। सांसारिक सुख का परम प्रकर्ष बताने के लिए यह कथन किया गया है। आत्मिक विकास की दृष्टि से मनुष्य भव देवभव से श्रेष्ठ है।

मूलः-तत्थ ठिच्चा जहाठाणं,
जक्खा आउक्खए चुया।
उवेंति माणुसं जोणिं,
से दसंगेऽभिजायई ॥३१॥

भावार्थः-हे गौतम ! यहाँ जो आत्माएँ

---

(१) एक वचन होने से इसका आशय यह है, कि समृद्धि के दश अङ्ग अन्यत्र कहे हुए हैं। उनमें से देव लोक से चव कर मृत्यु लोक में आने वाली कितनीक आत्माओं को तो समृद्धि के नौ ही अंग प्राप्त होते हैं। और किसी को आठ। इसी लिए एक वचन दिया है।

शुभ कर्म करके स्वर्ग में जाती हैं, वहाँ वे अपनी आयुष्य को पूरा कर अवशेष पुण्यों से फिर वे मनुष्य-योनि को प्राप्त करती हैं। जिस में भी वह समृद्धिशाली होती है।

इस कथन का यह आशय नहीं समझना चाहिए कि देव गति के बाद मनुष्य ही होता है। देव तिर्यंच भी हो सकता है और मनुष्य भी, परन्तु यहाँ उत्कृष्ट आत्माओं का प्रकरण है इसी कारण मनुष्य गति की प्राप्ति कही गई है।

मूलः- खित्तं वत्थूं हिरण्णं च,
पसवो दासपोरुसं ।
चत्तारि कामखंधाणि,
तत्थ से उववज्जई ॥३२॥

(7

भावार्थः-हे गौतम ! जो आत्मा गृहस्थ का यथातथ्य धर्म तथा साधुव्रत पाल कर स्वर्ग में जाता है: वह वहां से चव कर ऐसे गृहस्थ के घर

जन्म लेता है, कि जहां (१) खुली ज़मीन अर्थात् बाग़ वग़ैरह, खेत वगैरह (२) ढंकी ज़मीन अर्थात् मकानात वग़ैरह (३) पशु भी बहुत हैं। (४) और नौकर चाकर एवं कुटुम्बी जन भी बहुत हैं, इस प्रकार जो यह चार प्रकार के काम भोगों की सामग्री है उसे समृद्धि का प्रथम अङ्ग कहते हैं। इस अंग की जहां प्रचुरता होती है वहां स्वर्ग से आने वाला आत्मा जन्म लेता है। और साथ ही में जो आगे नौ अंग कहेंगे वे भी उसे वहां मिलते हैं।

मूलः-मित्तवं नाइवं होइ,
उच्चगोए य वण्णवं।
अप्पायंके महापण्णे,
अभिजाए जसोबले ॥३३॥

भावार्थः-हे गौतम ! स्वर्ग से आये हुए जीव को समृद्धि का अंग मिलने के साथ ही साथ

(१) वह अनेकों मित्रों वाला होता है। (२) इसी तरह कुटुम्बी जन भी उसके बहुत होते हैं (३) इसी तरह वह उच्च गोत्र व ला होता है। (४) अल्प व्याधिवाला (५) रूपवान् (६) विनयवान् (७) यशस्वी (८) बुद्धिशाली एवं (६) बली वह होता है।

॥ इति सप्तदशोऽध्यायः ॥
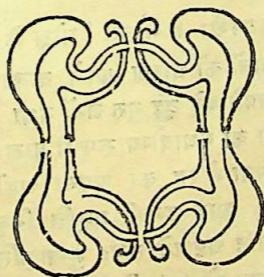
* ॐ *

मोक्ष-स्वरूप

(अध्याय अठारहवां)

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-आणाणिद्देसकरे,
गुरुणमुववायकारए ।
इंगियागारसंपन्ने,
से विणीए त्ति वुच्चई ॥१॥

ऊ।3

भावार्थः-हे गौतम ! मोक्ष के साधन रूप विनम्र भावों को धारण करने वाला विनीत है, जो कि अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों तथा आप्त पुरुषों की आज्ञा का यथायोग्य रूप से पालन करता हो, उन की सेवा में रह कर अपना अहोभाग्य समझता हो, और उनकी प्रवृत्ति निवृत्ति, सूचक भृकुटी आदि चेष्टाओं तथा मुखाकृति को जानने में जो कुशल हो, वह विनीत है । और इस के

विपरीत जो अपना वर्ताव रखने वाला हो, अर्थात् बड़े बूढ़े गुरु जनों की आज्ञा का उल्लंघन करता हो, तथा उन की सेवा की जो उपेक्षा करे, वह अविनीत है या दुष्ट है।

मूलः-अणुसासिओ न कुप्पिज्जा,
खंतिं सेविज्ज पंडिए।
खुड्डेहिं सह संसग्गिं,
हासं कीडं च वज्जए ॥२॥

भावार्थः-हे गौतम! पंडित वही है, जो कि शिक्षा देने पर क्रोध न करे। और क्षमा को अपना अंग बनाले। तथा दुराचारी और अज्ञानियों के साथ कभी भी हँसी ठट्ठा न करे, ऐसा ज्ञानियों ने कहा है।

मूलः- आसणगओ ण पुच्छेज्जा,
णेव सेज्जागओ कयाइवि।

22

आगम्मुक्कुडुओ संतो,
पुच्छेज्जा पंजलीउडो ॥३॥

भावार्थः-हे गौतम ! अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों को कोई भी बात पूछना हो तो आसन पर बैठे हुए या शयन करने के बिछौने पर बैठे ही बैठे कभी नहीं पूछना चाहिए। क्योंकि इस तरह पूछने से गुरु जनों का अपमान होता है। और ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं होती है। अतः उनके पास जा कर उकडूँ आसन * से बैठ कर हाथ जोड़कर प्रत्येक बात को गुरु से पूछे।

मूलः-जं मे बुद्धाणुसासंति,
सीएण फरुसेण वा।
मम लाभो त्ति पेहाए,
पयओ तं पडिस्सुणे ॥४॥

-7

* Sitting on kneels.

भावार्थः-हे गौतम ! बड़े वृद्ध व गुरु जन मधुर या कठोर शब्दों में शिक्षा दें, उस समय अपने को यों विचार करना चाहिए, कि जो यह शिक्षा दी जा रही है, वह मेरे लौकिक और पारलौकिक सुख के लिए है। अतः उन की अमूल्य शिक्षाओं को प्रसन्न चित्त से श्रवण करते हुए अपना अहोभाग्य समझना चाहिए।

मूलः-हियं विगयभया बुद्धा,
फरुसं पि अणुसासणं ।
वेसं तं होइ मूढाणं,
खंतिसोहिकरं पयं ॥ ५ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिसको किसी प्रकार की चिन्ता भय नहीं है, ऐसा जो तत्वज्ञ, विनयवान् महानुभाव अपने बड़े बूढ़े गुरु जनों की अमूल्य शिक्षाओं को कठोर शब्दों में भी श्रवण करके उन्हें अपना परम हितकारी समझता है।

और जो अविनीत मूर्ख होते हैं, वे उनकी हित-कारी और श्रवणसुखद शिक्षाओं को सुन कर द्वेषानल में जल मरते हैं।

मूलः--अभिक्खणं कोही हवइ,
पबंधं च पकुव्वई।
मेत्तिज्जमाणो वमइ,
सुयं लद्धूण मज्जई ॥ ६ ॥
अवि पावपरिक्खेवी,
अवि मित्तेसु कुप्पई।
सुप्पियस्सावि मित्तस्स,
रहे भासइ पावगं ॥७॥
पइण्णवाई दुहिले,
थद्धे लुद्धे अणिग्गहे।
असंविभागी अवियत्ते,

अविणीए त्तिवुच्चई ॥८॥

भावार्थः-हे गौतम! जो सदैव क्रोध करता है, जो कलहोत्पादक बातें ही नयी नयी घड़ कर सदा कहता रहता है, जिस का हृदय मैत्री भावों से विहीन हो, ज्ञान सम्पादन करके जो उस के गर्व में चूर रहता हो, अपने बड़े बूढे व गुरु जनों की न कुछ सी भूलों को भी भयंकर रूप जो देता हो, अपने प्रगाढ़ मित्रों पर भी क्रोध करने से जो कभी न चूकता हो, घनिष्ट मित्रों का भी उनके परोक्ष में दोष प्रकट करता रहता हो, वाक्य या कथा का संबंध न मिलने पर भी जो वाचाल की भाँति बहुत अधिक बोलता हो, प्रत्येक के साथ द्रोह किये बिना जिसे चैन ही नहीं पड़ता हो, गर्व करने में भी जो कुछ कोर कसर नहीं रखता हो, रसादिक पदार्थों के स्वाद में सदैव आसक्त रहता हो, इन्द्रियों के द्वारा जो पराजित होता रहता हो, जो स्वयं पेटू हो, और दूसरों को एक कौर भी कभी नहीं देता हो और पूछने पर भी जो सदा

अनजान की ही भाँति बोलता हो. ऐसा जो पुरुष है, वह फिर चाहे जिस जाति, कुल व कौम का क्यों न हो, अविनीत है, अर्थात् अविनय शील है। उसकी इस लोक में तो प्रशंसा होगी ही क्यों? परन्तु परलोक में भी वह अधोगामी बनेग।

मूलः-अह पण्णरसहिं ठाणेहिं,
सुविणीए त्ति वुच्चई।
नीयावित्ती अचवले,
अमाई अकुऊहले ॥ ६ ॥

भावार्थः-हे गौतम! पन्द्रह कारणों से मनुष्य विनम्र शीलवान् या विनीत कहलाता है:-वे पन्द्रह कारण यों हैं (१) अपने बड़े बूढ़े व गुरु जनों के साथ नम्रता से जो बोलता हो, (२) उनसे नीचे आसन पर बैठता हो, पूछने पर हाथ जोड़ कर बोलता हो; बोलने चलने, बैठने आदि में जो चपलता न दिखाता हो (३) सदैव निष्कपट भाव से जो वर्ताव करता हो (४) खेल

तमाशे, आदि कौतुकों के देखने में उत्सुक न हो ।

मूलः-अप्पं चाहिक्खिवई,
पबंधं च न कुव्वई ।
मेत्तिज्जमाणो भयई,
सुयं लद्धुं न मज्जई ॥ १० ॥

न य पावपरिक्खेवी,
न य मित्तेसु कुप्पई ।
अप्पियस्सावि मित्तस्स,
रहे कल्लाण भासई ॥११॥

कलहडमरवज्जए,
बुद्धे अभिजाइए ।
हिरिमं पडिसंलीणे,
सुवणीए त्ति वुच्चई ॥१२॥

भावार्थः--हे गौतम ! फिर तत्वज्ञ महानुभाव (५) अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों का कभी भी तिरस्कार नहीं करता हो, (६) टण्टे फसाद की बातें न करता हो (७) उपकार करने वाले मित्र के साथ बने वहां तक पीछा उपकार ही करता हो, यदि उपकार करने की शक्ति न हो तो अपकार से तो सदा सर्वदा दूर ही रहता हो (८) ज्ञान पा कर घमण्ड न करता हो (९) अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों की कुछेक भूल को भयंकर रूप न देता हो (१०) अपने मित्र पर कभी भी क्रोध न करता हो (११) परोक्ष में भी अप्रिय मित्र का अवगुणों के बजाय गुणगान ही करता हो (१२) वाक् युद्ध और काया युद्ध दोनों से जो कतई दूर रहता हो, (१३) कुलीनता के गुणों से सम्पन्न हो (१४) लज्जावान् अर्थात् अपने बड़े बूढ़े तथा गुरु जनों के समक्ष नेत्रों में शर्म रखने वाला हो (१५) और जिसने इन्द्रियों पर पूर्ण साम्राज्य प्राप्त कर लिया हो, वही विनीत है। ऐसे ही की इस लोक में प्रशंसा होती है। और परलोक में उन्हें शुभ गति मिलती है।

मूलः-जहा हिअग्गी जलणं नमंसे,
नाणाहुई मंतपयाभिसत्तं ।
एवांयरियं उवचिट्ठइज्जा,
अणंतनाणोवगओ वि संतो ॥१३॥

देश ९|८|५५

भावार्थः हे गौतम! जिस प्रकार अग्नि-होत्रि ब्राह्मण अग्नि को नमस्कार करते हैं, और उस को अनेक प्रकार से घी प्रक्षेप रूप आहुति एवं मंत्र पदों से सिंचित करते हैं इसी तरह पुत्र और शिष्यों का कर्त्तव्य और धर्म है, कि चाहे वे अनंत ज्ञानी भी क्यों न हो उन को अपने बड़े बूढ़े और गुरु जनों एवं आचार्य की सेवा शुश्रूषा करनी ही चाहिए। जो ऐसा करते हैं, वे ही सचमुच में विनीत हैं।

मूलः-आयरियं कुवियं णच्चा, 5|6|58

(१) कई जगह "णच्चा" की जगह

पत्तिएण पसायए ।
विज्झवेज्ज पंजलीउडो,
वइज्ज ण पुणुत्ति य ॥ १४ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! बड़े बूढ़े गुरु जन एवं आचार्य अपने पुत्र शिष्यादि के अविनय से कुपित हो उठें तो प्रीति कारक शब्दों के द्वारा पुनः उन्हें प्रसन्न चित्त करे, हाथ जोड़ जोड़ कर उनके क्रोध को शान्त करे, और यों कह कर कि " इस प्रकार" का अविनय या अपराध आगे से मैं कभी नहा करूंगा, अपने अपराध की क्षमा याचना करे।

(नच्चा) भी मूल पाठ में आता है । ये दोनों शुद्ध हैं । क्योंकि प्राकृत में नियम है, कि " नो णः " नकार का णकार होता है। पर शब्द के आदि में हो तो वहां ' वा आदौ ' इस सूत्र से नकार का णकार विकल्प से हो जाता है। अर्थात् नकार या णकार दोनों में से कोई भी एक हो।

मूलः-णच्चा णमइ मेहावी,
लोए कित्ती से जायइ ।
हवइ किच्चाण सरणं,
55 भूयाणं जगई जहा ॥१५॥

भावार्थः-हे गौतम ! इस प्रकार विनय की महत्ता को समझ कर बुद्धिमान् मनुष्य को चाहिए कि इस विनय को अपना परम सहचर सखा बनाले । जिससे वह इस संसार में प्रशंसा का पात्र हो जाय । जिस प्रकार वह पृथ्वी सभी प्राणियों को आश्रय रूप है, ऐसे ही विनयशील मानव भी सदाचार रूप अनुष्ठान का आश्रय रूप है । अर्थात् कृत कर्मों के लिए खदान रूप है ।

मूलः-स देवगंधव्वमणुस्सपूइए,
चइत्तु देहं मलपंकपुव्वयं ।
56 सिद्धे वा हवइ सासए,

देवे वा अप्परए महिड्ढिए ॥१६॥

भावार्थः-हे गौतम ! देव, गंधर्व, और मनुष्यों के द्वारा पूजित ऐसा वह विनीत मनुष्य रुधिर और वीर्य से बने हुए इस शरीर को छोड़ कर शास्वत सुखों को सम्पादन कर लेता है। अथवा अल्प कर्म वाले महा ऋद्धिवंता देवों की श्रेणी में जन्म धारण करता है। ऐसा ज्ञानी जनों ने कहा है।

मूलः-अत्थि एगं धुवं ठाणं,
लोगग्गम्मि दुरारुहं ।
जत्थ नत्थि जरा मच्चू,
वाहिणो वेयणा तहा ॥१७॥

भावार्थः-हे गौतम ! कठिनता से जा सके, ऐसा एक निश्चल, लोक के अग्र भाग पर, स्थान है। जहां पर न वृद्धावस्था का दुख है और न

व्याधियों ही की लेन देन है। तथा शारीरिक व मानसिक वेदनाओं का भी वहां नाम नहीं है।

मूलः-निव्वाणं ति अबाहं ति,
सिद्धी लोगग्गमेव य।
खेमं सिवमणा बाहं,
जं चरंति महेसिणो ॥१८॥

83

भावार्थः-हे गौतम ! उस स्थान को निर्वाण भी कहते हैं, क्योंकि वहां आत्मा के सर्व प्रकार के संतापों का एकदम अभाव रहता है। अबाधा भी उसी स्थान का नाम है, क्यों कि वहां आत्मा को किसी प्रकार की पीड़ा नहीं होती है। उसको सिद्धि भी कहते हैं; क्योंकि आत्मा ने अपना इच्छित कार्य सिद्ध कर लिया है। और लोक के अग्र भाग पर होने से लोकाग्र भी उसी स्थान को कहते है। फिर उसका नाम क्षेम भी है, क्योंकि वहां आत्मा को शाश्वत सुख मिलता है। उसी को

शिव भी कहते हैं, क्योंकि आत्मा निरूपद्रव होकर सुख भोगती रहती है। इसी तरह उसको अनाबाध * भी कहते हैं क्योंकि वहाँ गयी हुई आत्मा स्वाभाविक सुखों का उपभोग करती रहती है, किसी भी तरह की बाधा उसे वहाँ नहीं होती। इस प्रकार के उस स्थान को संयमी जीवन के बिताने वाली आत्माएँ शीघ्रातिशीघ्र प्राप्त करती हैं।

मूलः-नाणं च दंसणं चेव,
चरित्तं च तवो तहा।
एयं मग्गमणुप्पत्ता,
जीवा गच्छंति सोग्गइं ॥१६॥

भावार्थः-हे गौतम! इस प्रकार के मोक्ष स्थान में वही जीव पहुँच पाता है, जिसे सम्यक् ज्ञान है, वीतरागों के वचनों पर जिसे श्रद्धा है, जो चारित्रवान् है और तप में जिसकी प्रवृत्ति है।

* Natural happiness.

इस तरह इन चारों मार्गों को यथा विधि जो पालन करता रहता है। फिर उसके लिए मुक्ति कुछ भी दूर नहीं है। क्योंकि:—

मूलः-नाणेण जाणई भावे,
दंसणेण य सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हइ,
तवेण परिसुज्झई ॥ २० ॥

35

भावार्थः-हे गौतम! सम्यक् ज्ञान के द्वारा जीव तात्विक पदार्थों को भली भांति जान लेता है। दर्शन के द्वारा उसकी उन में श्रद्धा हो जाती है। चारित्र अर्थात् सदाचार से भावी नवीन कर्मों को वह रोक लेता है। और तपस्या के द्वारा करोड़ों भवों के पापों को वह क्षय कर डालता है।

मूलः-नाणस्स सव्वस्स पगासणाए,
अण्णाण मोहस्स विवज्जणाए।

रागस्स दोसस्स य संखएणं,
एगंतसोक्खं समुवेइ मे क्खं ।२१।

भावार्थः-हे गौतम ! सम्यक् ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान, अश्रद्धान के छूट जाने से और राग द्वेष के समूल नष्ट हो जाने से, एकान्त सुख रूप जो मोक्ष है, उसकी प्राप्ति होती है।

मूलः-सव्वं तओ जाणइ पासए य,
अमोहणे होइ निरंतराए ।
अणासवे झाणसमाहिजुत्ते,
आउक्खए मोक्खमुवेइ सुद्धे ॥२२॥

भावार्थः-हे गौतम ! शुक्ल ध्यान रूप समाधि से युक्त होने पर वह जीव मोह और अन्तराय रहित हो जाता है। तथा वह सर्व लोक को जान लेता है और देख लेता है । अर्थात्

शुक्ल ध्यान के द्वारा जीव चार घनघातिया कर्मों का नाश करके इन चार गुणों को पाता है। तदनन्तर आयु आदि चार अघातिया कर्मों का नाश हो जाने पर वह निर्मल मोक्ष स्थान को पा लेता है।

मूलः सुक्कमूले जहा रुक्खे,
सिच्चमाणे ण रोहति ।
एवं कम्मा ण रोहंति,
मोहणिज्जे खयंगए ॥ २३ ॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिस वृक्ष की जड़ सूख गई हो उसे पानी से सींचने पर भी वह लहलहाता नहीं है, उसी प्रकार मोहनीय कर्म के क्षय हो जाने पर पुनः कर्म उत्पन्न नहीं होते हैं। क्यों कि, जब कारण ही नष्ट हो गया, तो फिर कार्य कैसे हो सकता है ?

दशाश्रुत ५।३

मूलः-जहा दड्ढाणं बीयाणं,
ण जायंति पुणंकुरा ।
कम्म बीएसु दड्ढेसु,
न जायंति भवंकुरा ॥२४॥

भावार्थः-हे गौतम ! जिस प्रकार जले भूँजे बीजों को बोने से अंकुर उत्पन्न नहीं होता है, उसी प्रकार जिसके कर्म रूपी बीज नष्ट हो गये हैं, सम्पूर्ण क्षय हो गये हैं, उस अवस्था में उस के भव रूपी अंकुर पुनः उत्पन्न नहीं होते हैं । यही कारण है कि मुक्तात्मा फिर कभी मुक्ति से लौट कर संसार में नहीं आते ।

उववाई

॥ श्रीगौतमउवाच ॥

मूलः-कहिं पडिहया सिद्धा,
कहिं सिद्धा पइट्ठिया ।

कहिं बोंदिं चइत्ता णं¹,
कत्थ गंतूण सिज्झई ॥२५॥

भावार्थः-हे प्रभो ! जो आत्माए, मुक्ति में आयी हैं, वे कहां तो प्रतिहत हुई हैं ? कहां ठहरी हुई हैं ? मानव शरीर कहां पर छोड़ा है ? और कहां जा कर वे आत्माएँ सिद्ध होती हैं ?

॥ श्रीभगवानुवाच ॥

मूलः-अलोए पडिहया सिद्धा,
लोयग्गे अ पइट्ठिया ।
इहं बोंदिं चइत्ता णं²
तत्थ गंतूण सिज्झई ॥ २६ ॥

(१) णं वाक्यालंकार।

(२) णं वाक्यालंकार।

भावार्थः-हे गौतम ! जो आत्माएँ सम्पूर्ण शुभाशुभ कर्मों से मुक्त होती हैं, वे फिर शीघ्र ही स्वाभाविकता से ऊर्ध्व लोक को गमन कर अलोक से प्रतिहत होती हैं । अर्थात् अलोक में गमन करने में सहायक वस्तु धर्मास्तिकाय * होने से लोकाग्र में ही गति रुक जाती है । तब वे सिद्ध आत्माएँ लोक के अग्रभाग पर ठहरी रहती हैं । वे आत्माएँ इस मानव शरीर को यहीं छोड़ कर लोकाग्र पर सिद्धात्मा होती हैं ।

मूलः-अरूविणो जीवघणा,
नाणदंसणसन्निया ।
अउलं सुहसंपन्ना,

* A substance, which is the medium of motion to soul and matter, and which contains innumerable atoms of space, pervades the whole universe and has no fulcrum of motion.

उवमा जस्स नत्थि उ ॥२७॥

भावार्थः-हे गौतम ! जो आत्मा सिद्धात्मा के रूप में होती हैं, वे अरूपी हैं, उन के आत्म-प्रदेश घन रूप में होते हैं। ज्ञान दर्शन रूप ही जिन की केवल संज्ञा होती है और वे सिद्धात्माएँ अतुल सुख से युक्त रहती हैं। उन के सुखों की उपमा भी नहीं दी जा सकती है।

॥ श्रीसुधर्मा वाच ॥

मूलः-एवं स उदाहु अणुत्तरनाणी,
अणुत्तरदंसी अणुत्तरनाणदंसणधरे।
अरहा णायपुत्ते भयवं,
वेसालिए विआहिए त्ति बेमि ॥२८॥

5.6.18

भावार्थः-हे जम्बू ! प्रधान ज्ञान और प्रधान दर्शन के धारी, सत्योपदेश करने वाले, प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल के सिद्धार्थ राजा के पुत्र और त्रिशला

रानी के अंगज, निर्ग्रन्थ, अरिहंत भगवान् महावीर ने इस प्रकार कहा है, ऐसा सुधर्म स्वामी ने जम्बू स्वामी के प्रति निग्रन्थ के प्रवचन को समझाया है।

॥ इति अष्टादशोऽध्यायः ॥

* ॐ *

निर्ग्रंथ प्रवचन
पर
प्रमुख विद्वानों की सम्मतियाँ
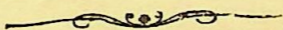
(१)

श्रीमान् ला० कन्नोमलजी एम ०ए०

सेशन जज धौलपुर।

ग्रन्थ बड़े महत्व का है। साधु तथा गृहस्थ दोनों के काम की चीज है। इसका स्थान सभी के घरों में होना चाहिए। विशेषतः पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में इसका प्रवेश अत्यन्त आवश्यक है।

(२)

श्रीयुत पं० रामप्रतापजी शास्त्री,

भू० पू० प्रोफेसर, पाली संस्कृत मोरिस

कालेज, नागपुर (सी. पी.)

इस के द्वारा जैन साहित्य में एक मूल्यवान संकलन हुआ है। यह केवल जैन दर्शन के इच्छुक विद्वानों को ही नहीं बल्कि जैन साहित्य में रुचि रखने वाले सभी सज्जनों के लिए अति उपयोगी वस्तु है।

(३)

श्रीमान् प्रो. सरस्वती प्रसादजी चतुर्वेदी

एम. ए. व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ

मारिस कालेज नागपुर (सी. पी.)

इस ग्रन्थ रत्न की सूक्तियों का मनन समस्त मानव समाज के लिए हितकर है। क्योंकि ये सूक्तियाँ किसी एक मत या सम्प्रदाय विशेष की न होकर विश्वजनीन हैं।

(४)

श्रीमान् प्रो. श्यामसुन्दरलालजी चोरड़िया

एम. ए. मोरिस कॉलेज, (नागपुर)

श्री मुनि महाराज जी का किया हुआ अनु-

वाद अत्यंत सरल, स्पष्ट और प्रभावोत्पादक है।"

(५)

श्रीयुत् वी. वी. मिराशी, प्रोफेसर संस्कृत विभाग, मोरिस कालज, (नागपुर)

यह पुस्तिका जैन साहित्य की धार्मिक और दार्शनिक सर्वोत्तम गाथाओं का संग्रह है।

(६)

श्रीमान् गोपाल केशव गर्दे एम, ए. भूतपूर्व प्रो. नागपुर

इसी प्रकार से सात आठ अर्धमागधी के ग्रन्थ छपवाए जाय तो इस भाषा (प्राकृत) का भी परिचय सरल संस्कृत की नांई बहुजन समुदाय को अवश्य हो जायगा।

(७)

श्रीमान प्रो. हीरालालजी जैन एम. ए. एल. एल. बी. किङ्ग एडवर्ड कालेज,

अमरावती (बरार)

" इस पुस्तक का अवलोकन कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। पुस्तक प्रायः शुद्धता पूर्वक छपी है। और चित्ताकर्षक है। × × × साहित्य और इतिहास प्रेमियों को इस से बड़ी सुविधा और सहायता मिलेगी। "

(८)

श्रीमान् महामहोपाध्याय रायबहादुर पं. गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा, अजमेर.

यह पुस्तक केवल जैनों के लिए ही नहीं किन्तु जैनेतर गृहस्थों के लिए भी परमोपयोगी है।

(९)

श्रीमान् ला. बनारसीदासजी एम. ए. पी. एच. डी. ओरियन्टल कॉलेज, लाहोर.

स्वामी चौथमलजी महाराज ने निर्ग्रन्थ प्रवचन रच कर न केवल जैन समाज पर किन्तु समस्त

हिन्दी संसार पर उपकार किया है। ऐसे ग्रन्थ की अत्यन्त आवश्यकता थी।

(१०)

श्रीयुत् प्रो. के. एन. अभ्यंकर एम. ए.

गुजरात कॉलेज, अहमदाबाद।

विश्वविद्यालयों में विद्वानों और विद्यार्थियों के हाथों में रक्खी जाने योग्य है। विश्वविद्यालय के पाठ्य ग्रन्थों में चुनाव के समय में इस ग्रन्थ के लिये अपनी ओर से सिफारिश करूंगा"

(११)

श्रीमान् अत्तरसेनजी जैन सम्पादक

"देशभक्त" मेरठ

यह पुस्तक प्रत्येक जैन घराने में पढ़ी जाने योग्य है।

(१२)

श्रीमान् प्रोफेसर हीरालालजी रसिकदासजी

कापड़िया एम. ए. बम्बई

आवुँ सर्वोपयोगी पुस्तक छपाववा बदल संग्राहक अने प्रकाशक ने अभिनन्दन घटे छे ।

(१३)

श्रीमान् पं. लालचन्दजी भगवानदासजी गांधी गायकवाड़ लायब्रेरी, बड़ोदा ।

प्रसिद्धवक्ता मुनि श्री चौथमलजी महाराज का यह प्रयत्न प्रशंसनीय है ।

(१४)

श्रीमान् नन्दलालजी केदारनाथजी दिक्षित बी. ए. एम. सी. पी. भूतपूर्व विद्या-धिकारी, बड़ौदा ।

निर्ग्रंथप्रवचन का पठन पाठन से जनता भारी लाभ उठा सकती है । ऐसा सुन्दर ग्रन्थ प्रकाशित कर के आपने जैन और जैनेतर मनुष्यों पर भारी उपकार किया है ।

(१५)

श्रीयुत गोविन्दलाल भट्ट एम. सी. प्रोफेसर संस्कृत, बड़ोदा कॉलेज, बड़ोदा।

यह संग्रह अत्यन्त उपयोगी और कंठस्थ करने योग्य है।"

(१६)

श्रीयुत प्रोफेसर भावे, बड़ोदा कॉलेज, बड़ोदा।

यह पुस्तक जैन धर्म का अध्ययन करने वाले अथवा रूचि रखने वाले महानुभावों के लिये उपयोगी सिद्ध होगी।

(१७)

श्रीमान् पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार, सरसावा।

आगम-ग्रन्थों पर से अच्छे उपयोगी पद्यों को चुन कर ऐसे संग्रहों के तैयार करने की नि:-

सन्देह जरूरत है इस के लिये मुनिश्री चौथमल जी का यह उद्योग और परिश्रम प्रशंसनीय है ।

(१८)

श्रीमान् पं० प्यारेकिसनजी साहेब कोल
भूतपूर्व दीवान सैलाना स्टेट एवं भूतपूर्व
एडवाइजर, झाबुआ स्टेट वर्तमान्
(Member Council)
उदयपुर (मेवाड़)

इस पुस्तक के भारी प्रचार से अवश्य ही उत्तम परिणाम निकलेगा और इस का प्रचार खूब हो ऐसी मेरी भावना है ।

(१९)

श्रीमान् अमृतलालजी सवचंदजी गोपाणी
एम. ए. बडौदा कॉलेज, बडौदा ।

अपने समाज की कतिपय पुस्तकों की अपेक्षा यह पुस्तक बिलकुल उत्तम है इस में शक नहीं ।

(२०)

श्रीमान् प्रो॰ घासीरामजी जैन M.Sc.F.P.S.
(London)
विक्टोरिया कॉलेज, ग्वालियर।

इस पुस्तक के अविरल स्वाध्याय से मुमुक्षु की आत्मा को सच्ची शांति प्राप्त होगी।

(२१)

श्रीमान् प्रो. बूलचन्दजी एम. ए. इतिहास और राजनीति के प्रोफेसर, हिन्दू कॉलेज, दिल्ली।

" आपने इस पुस्तक के प्रकाशन द्वारा एक बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है।

(२२)

श्रीमान् रामस्वरूपजी एम. ए. शास्त्री संस्कृत के प्रो. मुस्लिम युनिवर्सिटी, अलीगढ़।

यह पुस्तक पाली और प्राकृत भाषाओं की

कक्षाओं के लिए पाठ्य ग्रन्थों में रखने योग्य है।

(२३)

श्रीमान् डाक्टर पी. एल. वैद्य एम. ए. (कलकत्ता) डी. लिट् (पेरिस) प्रोफेसर संस्कृत और प्राकृत, वाडिया कालेज, पूना

निर्ग्रन्थ प्रवचन इसी तरह जैनियों के धर्म शास्त्रों के उपदेश का सार है। मैं चाहता हूं कि हरएक जैन यह नियम करले कि उस का कम से कम एक अध्याय रोज पढ़े और मनन करे।

(२४)

महामहोपाध्याय डा० गंगानाथ झा, एम० ए० डी० लिट् व्हाइस चान्सलर, अलाहाबाद युनिवर्सिटी।

यह तमाम जैन विद्यार्थियों के लिए बहुत उपयोगी प्रमाणित होगी।

दक, 'जैन प्रदीप' (प्रेमभवन) देवबन्द
(यू. पी.)।

मैं इस छोटे से संग्रह-ग्रंथ को यदि जैन गीता कह दूं तो कुछ अनुचित न होगा। इससे प्राणी मात्र लाभ ले सकते हैं।

(३१)

श्रीमान् पं. शोभाचन्दजी भारिल्ल, न्यायतीर्थ,
सम्पादक 'वीर' श्री जैन गुरुकुल, ब्यावर

यह संग्रह पाठशालाओं में पढ़ाने योग्य है। जैन गुरुकुल में इसे पाठ्यक्रम में नियत किया गया है।

(३२)

श्री परमानंदजी बी. ए., गुरुकुल विद्यालय,
सोनगढ़

साहित्य में ऐसे ही ग्रन्थों की महती आवश्यकता है। आपने सर्व साधारण को ऐसे सुअवसर

से लाभ उठाने का अवसर देकर प्रशंसनीय एवं स्पृहणीय कार्य किया है।

(३३)

श्री पं. भगवतीलालजी 'विद्याभूषण' राजकीय पुस्तक प्रकाशकाध्यक्ष, जोधपुर।

"यह पुस्तक हरेक धार्मिक पुरुष अपने पास रखें और मनन करके आत्म लाभ उठावें इसमें अपूर्व धर्म का सार दिया गया है।"

(३४)

श्रीमान् सूरजभानुजी वकील शाहपुर तहसील बुरहानपुर जि. नीमाड़ (बरार)

जैनियों को प्रारम्भ में यह पुस्तक जरूर पढ़नी चाहिए।

(३५)

श्रीयुत् कीर्तिप्रसादजी जैन बी. ए. एल.

एल, बी. वकील हाईकोर्ट, बिनोली
(मेरठ)।

सब धर्म प्रेमी बन्धु और खास कर जैन भाई व बहन इस पुस्तक से पूरा लाभ उठावेंगे।

(३६)

श्रीमान् भूपेन्द्रसूरिजी महाराज, भीनमाल।

आपका साशय-पूर्ण उद्योग सफल है। जन संघ में अत्युपयोगी है।

(३७)

प्रवर्तक श्रीमान् कान्तिविजयजी महाराज,
पाटण।

संग्राहक-महात्माजी नो परिश्रम सारो थयो छे।

(३८)

मुनि श्री सुमतिविजयजी गुजरानवाला
(पंजाब)

आपकी महनत प्रशंसनीय है।

(३९)

जैनाचार्य पूज्य श्री अमोलक ऋषिजी महाराज,

शास्त्र प्रेमी और व्याख्यान दाताओं को तो अवश्य पढ़ने योग्य है ।

(४०)

कविवर्य पण्डित मुनि श्री नानचन्द्रजी महाराज

उत्तम रत्नों चूंटी काढ़ी जिज्ञासु वर्ग ऊपर भारे उपकार कर्यो छे एकंदर चूटणी बहु सुन्दर छे।

(४१)

शतावधानी पं० मुनि श्री सौभाग्यचन्द्रजी महाराज

प्रस्तुत ग्रन्थ ना संग्राहकने वाचक वर्गे अवश्य आभार मानवो घटे छे।

(४२)

योगनिष्ठ पं. मुनि श्री त्रिलोकचंदजी महाराज

आवकारदायक छे हूं अने सत्कारूं छुं आवा "प्रवचनो" एकज भाग थी अटकी न रहे अ खास सूचवुं छुं।

(४३)

उपाध्याय मुनि श्री आत्मारामजी महाराज

मुमुक्षु जनों को अवश्य पठनीय है।

(४४)

वक्ता श्रीमान् सौभाग्यमलजी महाराज

जो प्राकृत का ज्ञान नहीं रखते हैं उन जीवों के लिये भारी उपकार किया है।

(४५)

"जैन महिलादर्श" सूरत वर्ष १२ अङ्क ८ में लिखता है कि—

पुस्तक में गाथा सरल अच्छे हैं। मनन करने योग्य हैं।

(४६)

'दिगम्बर जैन' सूरत वर्ष २६ अङ्क १२

वीर सं० २४५६ पृष्ठ ३६१

जैनों को ही नहीं किंतु मानव मात्र के लिए हितकारी है। पुस्तक की नीति पूर्ण गाथाएँ संग्रह करने योग्य हैं। पुस्तक संग्रहणीय व उपयोगी है।

(४७)

'जैन मित्र' सूरत ता० १६-११-३३ में

लिखता है

कुल गाथाएँ ३७७ हैं। वे सब कण्ठ करने योग्य हैं। दिगम्बरी भाई भी अवश्य पढ़ें

(४८)

"जैन जगत्" अजमेर अक्टूम्बर सन् ३३

के अंक में लिखता है-

जैन सूत्र ग्रन्थों के नीति पूर्ण उपदेश प्रद पद्यों का यह सुन्दर संग्रह है।

(४९)

'वीर' मल्हीपुर ता० १६-११-३३ में
लिखता है—

संग्रह परिश्रम पूर्वक किया गया है। श्वे० पाठशालाओं के पाठ्यक्रम में रखने योग्य है।

(५०)

"अर्जुन" देहली ता० ६-११-३३ में
लिखता है—

जैन धर्म सम्बन्धी पाठ्य ग्रन्थों में इस पुस्तक का स्थान ऊंचा समझा जावेगा।

(५१)

"वैंकटेश्वर समाचार" बम्बई ता० १५-
१२-३३ में लिखता है—

यह एक सम्मादरणीय ग्रन्थ है पर ज्ञानामृत की प्यास रखने वाले सभी महानुभाव इस से लाभ उठा सकते हैं।

(५२)

" कर्मवीर " संख्या ५० ता० १७ मार्च १९३४ में लिखता है-

भक्ति-ज्ञान वैराग्यमय गीता के समान इस पुस्तक को उपदेश ग्रन्थ का रूप देने के लिए संग्राहक महोदय प्रशंसा के पात्र हैं ।

(५३)

' बम्बई समाचार ' ता० २२ मी जुलाई १९३३ में लिखता है कि-

जैनो तेम जैनेतरो माटे पण एक सरखु उपयोगी छे ।

(५४)

श्री " जैन पथ प्रदर्शक " आगरा ता० ६ सितम्बर ३३ में लिखता है कि-

प्रत्येक जैनी को पढ़कर के मनन करना चाहिए और जैनेतर जनता में इसका यथेष्ट प्रचार होना